MAIN TAL

Class No.

Book No.

Key No.

জন্ম—বিন্দু

जल-बिन्दु

लेखक

धूमकेतु

[गुजराती के यशस्वी साहित्यकार]

भाषान्तरकार

क्षितीशकुमार विद्यालंकार

वितरक :

राजपाल एंड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली–६.

प्रकाशक :
साहित्य मन्दिर
४।१६ रूपनगर
दिल्ली—६.

मूल्य दो रुपये आठ आने

मुद्रक :
रमेश प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
कुमार आर्ट प्रेस
बहादुरगढ़ रोड, दिल्ली

गुरु बन्दा का सैनिक

उस दिन दिल्ली नगरी की सजावट कुछ अलग ही प्रकार की थी। राजमहल के रास्ते के दोनों ओर मनुष्यों के ठट्ठ के ठट्ठ जमा हो गये थे। आठ आठ महीने तक, थोड़े-से साधनों और मुट्ठी भर अनाज के ऊपर रह कर बादशाही फौज के तीस हजार मनुष्यों को हंफा देने वाले, लोह-रस पीये हुए गुरु बन्दा के सिक्ख सैनिक आज बन्दी बनकर आ रहे थे।

रक्त टपकते सैकड़ों सिर भाले के ऊपर लटका कर चलते हुए मुगल सैनिक पहले दिखाई दिये। उनके पीछे, एक हाथी पर लोह पिंजर में बैठे हुए, किसी भी प्रकार के भय से मुक्त गुरु बन्दा का वीर देह दिखाई दिया। उसके पहने हुए लम्बे जामे के ऊपर स्थान स्थान पर दाड़िम के से सुन्दर फूलों की चित्रकारी खिली हुई थी; सिर पर—मानों हृदय के ही रंग से रंगी हो, ऐसी लाल पाग शोभित हो रही थी। उसके पीछे खुली तलवार लेकर एक अमलदार खड़ा था।

और पिछवाड़े सात सौ चालीस सिक्ख सैनिक थे : एक के भी चेहरे पर उदासी नहीं थी; परिणाम का पश्चाताप नहीं था।

कोमल वय के बालक और माताओं में से किसी किसी की आँख में से आँसू झरे होंगे, कइयों ने उपहास किया होगा, बहुतों ने—'यह है तुम्हारे काम का फल'—कहकर हँसी उड़ाई होगी; पर बन्दियों में से एक के भी चेहरे पर किसी प्रकार की भावना का नाम निशान नहीं था। सब कण्ठों में से एक ही आवाज आ रही थी : 'अलख निरंजन!'

× × ×

चबूतरे के ऊपर रोज एक एक सौ के सिर धड़ से अलग होते हैं। अभय बना हुआ एक एक सैनिक, हँसती मुख-मुद्रा से अपने जल्लाद

को 'ओ मुक्त !' कहकर 'पहले मैं, पहले मैं' कहता हुआ आगे आता है। वीरत्व की यह वाणी दिल्ली नगर के कोट-कंगूरों के ऊपर से होकर दूर दूर पंजाब के मैदानों में फैल जाती है।

ऐसे समय में, थकान से, भूख से, ताप से, दुःख से, हृदय में भरी हुई महावेदना से, केवल आशा-तन्तु के ऊपर लटकते हाड़-पिंजर सी एक स्त्री ने दिल्ली में प्रवेश किया। बादशाह फर्रुखसियर से मिलने, और अपने जवान पुत्र को बचाने के लिए उसने महान प्रयास किया। सैयद अब्दुल्ला खां वजीर से, उसके दीवान रतनचंद की मार्फत, रात दिन स्थिर पगों पर खड़े रहकर उसने प्रार्थना पर प्रार्थना और प्रार्थना पर प्रार्थना की। आँसुओं से पृथ्वी को आप्लावित कर दिया। शब्दों से दिल को पिघला दिया। अपने जवान पुत्र को पुनः प्राप्त करने के लिए उसने आकाश-पाताल एक कर दिया।

'मेरा बेटा इकलौता है। भोला है। वह तो लड़ाई में था ही नहीं। सिक्खों के हाथ पकड़ा गया था, इसलिए यहाँ आ गया है। वह गुरु का सैनिक था ही नहीं। मेरा बेटा इकलौता है—उसे छोड़ दो, उसे छोड़ दो, उसे छोड़ दो। पुनः मुझे सौंप दो। मैं उसे अपने खेत में ले जाऊँगी। वहाँ पेड़ की छाया के नीचे हम मां-बेटे खाट पर बैठकर टुकुर टुकुर रोटी खायँगे—मेरा बेटा मुझे सौंप दो। मैं उसे सँभालकर ले जाऊँगी !'

सैयद अब्दुल्ला खां वजीर का दिल पिघल गया। उसने बादशाह से विनती की और माफीनामा प्राप्त करके वृद्ध स्त्री को दे दिया।

× × ×

वृद्ध माता बादशाही माफीनामा लेकर एक अमलदार के साथ चबूतरे में पहुंची। सौ मनुष्यों की कतार लगी हुई थी—और इतनी दूर से उसका मातृ-हृदय जिसकी रात-दिन चिन्तना कर रहा था, वह इसका जवान पुत्र, दूधभरे होठों वाला, कुँवर कन्हैया जैसा सहज श्यामल, नख-शिख रूप रूप से भरा खड़ा था; ठीक तलवार के

पास; उसकी ही बारी थी''''''कोतवाल ने वृद्ध स्त्री के काँपते हुए हाथ से बादशाही फरमान लिया और पढ़ा। वृद्ध स्त्री की ओर देखा—उसकी आँखों में से सावन-भादों का नीर बरस रहा था।

उसने धीरे से जवान को बुलाया : 'यह तेरी माता है। जा, तुझे बादशाह की ओर से माफी मिली है। तेरी माता ने प्रार्थना की है कि वह तो सिक्ख-सैन्य में पकड़ा गया था, गुरु के साथ लड़ाई में था ही नहीं।'

और जैसे किसी एकाकी वज्रशिला के ऊपर बिजली गिरी हो, ऐसे रुद्र-स्वरूप से उस जवान सैनिक ने जवाब दिया : 'माँ है किसकी ? मेरी माँ तो केवल एक ही है—और वह है यह धरती !'

'तो, तू भी गुरुदासपुर की लड़ाई में था ?'

सैनिक ने दृढ़ स्वर से जवाब दिया : 'हां।'

जिस लड़ाई में घास खाकर, पत्ते खाकर, और अन्त में मृत पशुओं की हड्डियाँ खाकर उसके भाई लड़ रहे थे, वहाँ पर ही वह भी लड़ रहा था। उनका वीरत्व नहीं, अनाज समाप्त हो गया था। उसने फिर दृढ़ स्वर से जवाब दिया : 'हाँ, मैं वहाँ था।'

'बेटा !'—वृद्ध माता की शोक-भार से दबी, काँपती हुई आवाज अनेकों के अन्तःकरण को कँपाने वाले महा-विलाप के शब्द की तरह बैठ गई।

सैनिक बेटे ने वज्रवाणी में जवाब दिया :

'माँ ! ओ माँ ! गुरु गोविन्दसिंह ने चार-चार पुत्रों को समर्पण कर दिया, और तुमसे एक पुत्र का भी मोह नहीं छूटता ?—अपने सात सौ चालीस भाइयों को छोड़कर अब मैं अकेला चल निकलूँ ? माँ ! जाओ, लौट जाओ। मुझे अब मुक्ति में से यांचित गात लौटाओ। जाओ माँ ! जाओ, अपने खेत की वाटिका में, उस जामुन के पेड़ के नीचे, किसी किसी चाँदनी रात में तुमसे मिलने चला आऊँगा। जाओ, माँ ! जाओ !'

हड्डियों को पीस पीस आटा बनाकर खाते हुए भी जिनकी छाती में कंपकंपी नहीं आई थी, उन अनेकों की आँखें गीली हो गईं।

पर इससे पहले तो सिंह के बालक की तरह कूदकर वह जवान सैनिक जल्लाद की तलवार के नीचे खड़ा हो गया था। हँसता हँसता कह रहा था: 'ओ मुक्त! आज तो मैं पहले!—चलाओ, वाह गुरु की फतह!!!'

राजा हनुमंतसिंह

ई० सन् १८५७ का समय था।

मैया गंगा, गोमती और गागरा के पानी को मानव-शोणित से भर देने के लिये मानों नरमेध-यज्ञ रचाया गया था।

दोषी या निर्दोष, स्याना या शैतान, साधु या स्वार्थी—चाहे जो कोई हो—सन् '५७ के विद्रोहियों के पास इस प्रकार का विवेक करने का समय नहीं था। दावानल की तरह एक के बाद एक गांव आत्मसात् किया जा रहा था। गंगा और गोमती के आश्रय में आती हुई अनेक नौकायें, देखते-देखते ही अशरण अंग्रेज स्त्रियों और बालकों के रुदन के साथ जल-समाधि लेती हुई अदृश्य हो रही थीं।

चारों तरफ दौड़-धूप थी। सब जीने के लिए भाग रहे थे।

गंगा और गोमती के दोनों किनारे—जीवन को हाथ में लेकर खेलने वाले मनुष्य-समूहों से भर गये थे। समस्त प्रदेश बलवाई सैनिकों के हाथ में थे।

'वह नाव निकली'—यह आवाज पूरी न होती थी कि उससे पहले ही 'वह नाव डूबी'—यह आवाज छा जाती थी।

कोई सही-सलामत न था।

स्थान-स्थान से, लखनऊ सर करने के लिये विद्रोहियों के सैनिक इस ओर प्रयाण कर रहे थे। प्रत्येक गांव अशान्त था। प्रत्येक मनुष्य विद्रोही सैनिक था। वातावरण विश्वासघात के खंजर से छलाछल भरा था। आज दो कौड़ी का लगने वाला दीन-हीन चपरासी, कल राइफल लेकर 'साहिब ! सँभलना !!' कहता हुआ सामने खड़ा हो जाता। चारों तरफ के प्रदेश में जहां भाड़े के सिपाही थे, वहां आज सैनिक ऐसे खड़े हुए थे, मानों मनुष्य मुर्दों में से पैदा होते हों। ऐसा लगता था कि सारे मनुष्य किसी अदृश्य बिजली का झटका अनुभव कर रहे हैं।

ऐसे समय एक दिखने में छोटी, पर बड़ी घटना घट गई।

फैजाबाद के जिले में सालोनी नाम का एक गांव है। वहां के अंग्रेज अफसर प्राण बचाने के लिए कालाकाँकर नरेश राजा हनुमंत-सिंह के अतिथि बनकर रह रहे थे।

नई जमींदारी की कानूनी धाराओं से अनभिज्ञ इस राजा की बहुत-सी जमीन, अदृश्य और अज्ञात रीति से जब्त हो गई थी। सिर के बदले में खरीदी हुई जमीन यों ही चली जाय, यह कालाकाँकर नरेश को बुरा तो बहुत लगा था और उसका मध्ययुग के अवशेष-सा ज्वलंत तेजस्वी मानी स्वभाव क्षत हो गया था—तो भी भयत्रस्त अंग्रेज अतिथियों को उसने ऐसे स्थान दिया था, जैसे कि यह सब कुछ हुआ ही न हो।

किसी ने कहा : 'नरेश ! दावानल सुलग रहा है; गांव-गांव हिल उठा है; अपना सर्वस्व छीन लेने वाले को तुम यों उठ कर आश्रय दो—यह शोभा नहीं देता !'

दूसरे ने कहा : 'खैर भाई ! जमाना है। अपने बाप-दादा ने रण में मस्तक देकर जमीन ली ; अपना मस्तक अंग्रेजों के चरणों में रख कर तो उसे वापिस फिर ले ही लो !'

राजा हनुमंतसिंह को ये वचन तीक्ष्ण शर की तरह बींधते रहे। पर अभी उसने विवेक नहीं गँवाया था। उसका एक ही जवाब था : 'भयत्रस्त शरणागतों को मरने देने से हमारी राजपूती लज्जित होती है।'

अनुयायी अन्दर-अन्दर कानाफूसी करते : 'राजपूती तो किसी को क्या पता, पर राजा को मोह हो गया है—सेवा करके समृद्धि जमा करने का शूद्र-धर्म राजा को प्रेरित कर रहा है।'

पर कालाकाँकर नरेश राजा हनुमंतसिंह अपने सब अंग्रेजों को इलाहाबाद के उतारघाट तक पहुंचा कर आया। सब सही-सलामत थे। अन्तिम सलाम हो गई। विदाई की घड़ी आ पहुँची। गंगा मैया के किनारे राजा खड़ा था। अंग्रेज इलाहाबाद जाने के लिए विदाई ले रहे थे।

उनमें से एक ने कहा : 'राजा साहिब ! इसी प्रकार हमें बलवा शान्त करने में आपकी और सहायता की भी आशा रखनी चाहिये।'

राजा हनुमंतसिंह का ऊँचा डीलडौल वाला शरीर थोड़ा और ऊँचा हो गया। वह तन गया, उसका सीना और पलट गया। उसने जवाब दिया : 'तुम्हारे ऊपर अचानक हमला हुआ और तुम निराश्रय भयत्रस्त बन कर मेरे पास आए, उस समय मेरा धर्म स्पष्ट था—मैंने तुम्हें जान-जोखिम से बचाया। पर तुमने कलम के एक झपाटे में हजारों मनुष्यों को भूमि-विहीन कर दिया है। जो जमीन मेरे कुटुम्ब में सूर्यवंशी महाराज रामचन्द्र के समय से चली आती थी, तुमने उसे एक झपाटे में छीन लिया है—यह कहूं तो अच्छा है। तुम निराश्रितों और भयत्रस्तों को शरण देना मेरा धर्म था—पर अब—अब···' राजा हनुमंतसिंह के शरीर में एक अदृश्य बिजली

का प्रवाह बह रहा था।''''अब आगामी काल में अपने सब मित्रों और सगे सम्बन्धियों की सेना का मुखर बन कर मैं लखनऊ जाने वाला हूँ। तुम अतिथियों को रक्षण देना जिस प्रकार मेरा धर्म है, उसी प्रकार अपनी जमीन के अन्याय के लिए रण में लड़ना या मरना भी मेरा क्षात्र-धर्म है। इस अपने दूसरे धर्म को भी मैं भूल नहीं सकता।'

× × ×

मैया गंगा का पानी इस प्रकार अधिक वेग से बह रहा था, जैसे अमरवाणी से प्रोत्साहन प्राप्त किया हो।

जब ब्रह्मज्ञान मिलता है

भगवान् भृगु अपने हृदय में ब्रह्म-दर्शन की झांकी ले रहे थे।

नीचे नर्मदा का जल चला जाता था; सामने उसका संगमरमर का स्वच्छ किनारा शोभित हो रहा था; निर्मल आकाश में बाल-रवि की किरणावलि आ रही थी; और समग्र वन में परम शान्ति थी। वातावरण में यौगिक की महाशान्ति प्रकट हो रही थी।

ऐसे समय भगवान भृगु से मिलने के लिए ऋषि-मुनियों का एक मण्डल विन्ध्याटवी के वन को लांघ कर चला आ रहा था।

इस मण्डल के साथ, जिसने वंशी बजाकर स्वर-शास्त्रियों को मुग्ध किया था, सुदर्शन-चक्र धारण करके शत समर-विजेताओं का पराभव किया था, गीता गाकर ब्रह्म-ज्ञानियों को ज्ञान-चक्षु दिए थे, वह श्रीकृष्ण भी थे। चर्चा चल ब्रह्म-ज्ञान की ही हो रही थी।

भगवान् भृगु की, गीता में आई प्रशस्ति कइयों को अनुचित प्रतीत हुई थी, कइयों को अनुपयुक्त लगी थी।

और हरेक मत-मतान्तर का दर्शन करके, हो सके तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उत्तर देने की नैसर्गिक-शक्ति वाला कृष्ण इन सर्व मत-मतान्तरों का स्मित-मात्र से ही जवाब दे रहा था।

भगवान् भृगु के आश्रम के समीप आते ही सबको वायु-मण्डल में फैली हुई परम शान्ति का, मानों, सन्देश मिला। वातावरण एकदम प्रशान्त बना हुआ-सा लगा। कुसुमगन्ध लेकर वायु भी, आमोद-प्रमोद के बदले मानों कोई नया ही सत्व ला रही थी।

भगवान् भृगु का अचल और शान्त देह, शान्त समुद्र जैसा दिखाई दिया। उस पर बाल-सूर्य की किरणें पड़ रही थीं, और इससे उनका देह तप्त कंचन की तरह शोभित हो उठता था।

सबने दूर खड़े रहकर शान्त रीति से नमस्कार किया।

भगवान् ध्यानस्थ थे। उनका चित्त आनन्द की किसी ऐसी भूमिका पर विहार कर रहा था, जहां कि भय, इच्छा और संशय सब नास्ति बन जाते हैं।

ऋषि-मुनि-मण्डल खड़ा रहा। श्रीकृष्ण ने सबको शान्त रहने की सूचना दी। फिर श्रीकृष्ण ने भगवान् भृगु के समक्ष जाकर नत-मस्तक हो धीमी आवाज में विनती की: 'भगवन्! ब्रह्मा आपसे मिलने के लिये आए हैं!'

लेश भर भी अशान्ति के बिना ध्यानस्थ भृगु वैसे-के-वैसे रहे।

दूसरी बार कृष्ण ने उसी प्रकार कहा 'भगवन्! शङ्कर आपसे मिलने के लिए आये हैं!'

ऋषि-मुनि कृष्ण की इस युक्ति को समझ कर मन ही मन हँस रहे थे। शङ्कर का नाम सुनते ही भृगु ध्यानभंग होकर दर्शन करने के लिये उत्सुक बन जायेंगे।

पर आश्चर्य की बात थी। ऐसा कुछ नहीं हुआ। भृगु की ध्यानस्थ मुद्रा वैसी ही अचल और प्रशान्त बनी रही।

तीसरी बार कृष्ण ने कहा; 'भगवन्! सर्व-लोकाधार विष्णु आपसे मिलने आये हैं, ये खड़े!'

और ऋषि-मुनियों के आश्चर्य का पार न रहा। उनकी वही निश्चल प्रशान्त मुद्रा! किंचित् भी अशान्ति नहीं; जरा-सी भी उतावली नहीं। धीर-गम्भीर-शान्त—मौन-सागर के अतल तल में से मानों आ रहा हो, इस प्रकार शब्द सुनाई दिया: 'यह कौन ऐसी अपण्डित की सी भाषा यहां बोल रहा है—यह कौन अज्ञानी की तरह दर्शन-दृष्टि का भेद दर्शा रहा है?—ब्रह्मा-विष्णु और महेश क्या हृदय में नहीं हैं, जो बाहर देखना हो? प्राकृत जनों की इस अज्ञान-भाषा का कौन अनुकरण कर रहा है?'

सबके मस्तक एक साथ सहज ही श्रद्धा और भक्ति से नीचे झुक गये।

× × ×

उस रात चन्द्रामृतधारा से स्नान करती हुई, श्वेत दाढ़ियों से शोभित ऋषि मुनियों की वापिस लौटती हुई मण्डली अब ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा नहीं कर सकती थी; ब्रह्म-ज्ञान की साक्षात् प्रतिमा के दर्शन से उनकी वाणी मौन हो गई थी; वाणी के मौन-भाव स्वीकार करते ही चित्त की अनेक छोटी-बड़ी तेज-छाया-सी ग्रंथियों का संशोधन तथा शुद्धि-करण चल रहा था!

× × ×

और विन्ध्याटवी के वन मूक-मूक उनकी विचित्र मूक-वाणी सुन रहे थे!

प्रेरणा मूर्ति

शिवाजी महाराज के द्वार पर, भरे यौवन में, खासा छह फुट ऊंचा क़दावर दिखने वाला एक चपल राजपूत युवक आकर खड़ा हुआ।

उसका सीना देखकर ही मराठे द्वारपाल ने सावधान होकर अपना हथियार सँभाल लिया। महाराज के आगरे से छूटकर आने के बाद, अभी अभी मुगलों के साथ फिर लड़ाई शुरू हुई थी। तानाजी मालुसरे ने जीवन को संकट में डालकर उदयभानु के पास कोंडाणा—सिंहगढ़ वापिस ले लिया था; पुरन्दर गिरा दिया था; पन्द्रह हजार घुड़सवार लश्कर के साथ महाराज सूरत पर छापा मार कर लौट आये थे; और खुद खानदेश की राजधानी मराठे सवारों की प्रतिध्वनि से काँपती थी। ऐसे समय कोई दग़ा न कर जाए, इसलिए एक-एक मनुष्य सावधान रहता था।

आगन्तुक युवक का वेष शिकारी जैसा था। वह द्वारपाल के पास आया: 'मैंने महाराज से मिलना है!'

मराठा बिना जबाब दिये उसके सामने देखता रहा। अन्य और भी आठ-दस सैनिक आसपास जमा हो गए: 'क्या काम है?'

'यह एक चीज है मेरे पास'—कह कर उसने अपने पास का कबूतर दिखलाया। 'सुना है कि महाराज को कबूतर की लड़ाई का शौक है, इसलिये मैं दूर—बहुत दूर से इसे दिखाने के लिए आया हूँ!'

'यह बात है?'—किसी ने जवाब दिया, पर सब एक दूसरे की ओर आँख मिचका रहे थे।

इतने में ज़रा गड़बड़ हो गई और खुद शिवाजी महाराज अपने आप बाहर आते दिखाई दिये। अपने लघु देह में फैली हुई विचित्र वीर-श्री से वे शोभित हो रहे थे। गरुड़ की तरह उनकी चपल आँखें पहले ही सपाटे में आगन्तुक राजपूत युवक पर अटक गईं; 'यह कौन है?' उस युवक को आगे बढ़ने का इशारा किया।

युवक आगे बढ़ा। एक एक मराठा तीक्ष्ण भेद-दृष्टि से उसकी अंगुलि अंगुलि तक की गति-विधि देख रहा था। युवक राजपूत आगे आया, महाराज को तलवार नजर करके थोड़ा पीछे हटा, और नम्रता से बोला-'महाराज, मेरे पास एक कबूतर है। लड़ाई में खूब मंजा हुआ है, कोई उसे जीत नहीं सका।'

'अच्छा ?'—महाराज के चेहरे पर हलका-सा स्मित खिल उठा। 'कहां है ?—हमारे कबूतर के साथ मुक़ाबला होने दो—'

महाराज अन्दर दरबार में गये। वहाँ मानों छोटी-मोटी कचहरी ही लग गई। युवक राजपूत के कबूतर के साथ महाराज का कबूतर लड़ाई में उतरा, और राजपूत का कबूतर जीत गया।

पर महाराज का दिल इस लड़ाई में नहीं था। युवक को देखते ही उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यह कोई विचित्र वीर है, और कबूतर का खेल तो एक निमित्तमात्र है।

महाराज ने युवक के सामने देखकर कहा : 'निवास कहाँ है ?—कबूतर तो बड़ा चुनकर रखा लगता है !'

'रहता हूँ बुन्देलखण्ड में—'

'बुन्देलखण्ड में ?—महाराज चम्पतराय के वंश में अब कोई जीता-जागता है क्या ?'

बुंदेलखण्ड में आई हुई महोबा की रियासत के विषय में, और उसके राजा चम्पतराय के शाही सेना के विरुद्ध डाकों के विषय में महाराज ने बहुत कुछ सुना था। विन्ध्यवासिनी देवी को बूंद बूंद लहू देकर वह बुंदेला बना है, यह वीर-गाथा भी उसने सुनी थी। इसीलिए महाराज ने ज़रा इतमीनान के लिए पूछा था।

'क्यों बोले नहीं ?—'

'महाराज, मैं ही चम्पतराय का पुत्र हूँ। आपत्ति का सताया हुआ आपके पास आया हूँ। मैंने सिरोंजा राजा जयसिंह के पास रहकर काम किया है। महाराज जब सिरोंजा राजा से लड़ने के लिए आये, तभी से

मोहिनी लगी थी कि किसी तरह महाराज की सेना में रहूँ। आज इसीलिए आपके पास आया हूं। मेरे योग्य कार्य दीजिए; किसी काम में पीछे नहीं रहूँगा। मैंने अब मुग़ल सैन्य में नहीं रहना—यह मेरी प्रतिज्ञा है।'

महाराज युवक राजपूत के सामने देखते ही रहे। उन्होंने शान्त रहकर—शान्त वाणी में उत्तर दिया : 'तुम चम्पतराय के सबसे छोटे पुत्र हो ?'

'हां, महाराज !'

'तुम्हारा नाम ?'

'छत्रसाल !'

'अच्छा ?—तो हाँ, युवक छत्रसाल !—तेरी जन्मभूमि वहाँ पराधीन रहेगी और तू मेरे यहाँ नौकर रहेगा ?—तू वीर का पुत्र है; जवान ! उठ कर खड़ा हो जा। यह तेरा विशाल शरीर, यह तेरी राजवंशी मुख-मुद्रा, यह तेरी जवानी—ये सब अपनी जन्मभूमि बुंदेलखण्ड के चरणों में तुझे समर्पित करने चाहियें। तू राजा का पुत्र है—सरदार होने का का स्वप्न भी कैसे आता है?—अपनी कुलदेवी विन्ध्य-वासिनी देवी के पास जा—वह तुझे मार्ग बतायेगी।'

'महाराज !—पर्वतमाला आपकी रक्षा करती है, माता भवानी हाज़िर-नाज़िर है ही, हिन्दुत्व को आपने जगाया है—मैं तो आपके चरणों में ही शोभा पाता हूँ।'.....

महाराज शिवाजी ने वीर-वाणी में उत्तर दिया : 'तेरी माता ने नंगी खुली तलवार लेकर, तेरे पिता के पीछे मिलने के लिए आने वाले मित्रों को दुश्मन हैं, यह समझ कर, जो कुछ कहा था वह, किसी कवि या भाट-चारण ने तुझे सुनाया नहीं ?—ले मैं सुनाता हूँ। देह को आड़ में करके खड़े होकर उसने कहा था—'जब तक तन मेरे शरीर

के रत्ती-रत्ती और राई-राई टुकड़े नहीं कर डालोगे, तब तक मैं यहाँ से नहीं हटूंगी। मैं ही अपने पति का किला हूँ।'

× × ×

युवक छत्रसाल की आँखों में आँसू आ गये। उसे पिता का आक्रमण सतत स्मरण था। अपने आप जब सात वर्ष का था, तब माता ने प्रेम से माथे पर हाथ फेर कर और बारम्बार चुम्बन करके और स्नेह से भेंट कर, मामा के यहाँ रवाना कर दिया था; और वन-पृष्ठ से बारम्बार पीछे फिर कर देखती हुई, निशानियाँ करती हुई, पति के साथ छाया की तरह घूमने के लिए—डाके में साथ रहने के लिए—वह चल निकली थी; वह दिन उसे लगातार याद था! अरे! ये सब एक वट की छाया-तले खड़े थे। चार घोड़े हिनहिना रहे थे। मामा का विश्वस्त आदमी उसे लेने के लिए आया था। माता चुम्बन कर रही थी। उसे गोदी में लिया हुआ था। उसके माथे पर और पीठ पर हाथ फेर रही थी—'मेरा छत्रु तो राजा बनने वाला है, यह हीरा उसका है'—इस प्रकार वत्सलता से गद्-गद् कण्ठ से बोल कर एक हीरा माता ने दिया था; वह हीरा अब भी उसकी गाँठ में था।—युवक छत्रसाल क्षण भर के लिए सात साल का बालक बन कर माँ की गोद ढूंढ रहा था...और फिर पिता माता भटक कर, दुश्मनों के हाथों पकड़े गये और मरण को प्राप्त हुए—यह सब उसकी नजर के सामने तैर गया। उसे पिता की अन्तिम आवाज सुनाई देने लगी—'छत्रु! दौड़ना, दौड़ना!!'—उसका हाथ अचानक ही तलवार पर गया—मराठों का एक-एक सरदार सचेत हो गया। माता के नाम के असर को जानने वाले महाराज शिवाजी उठ कर वीर छत्रसाल के पास गये—हाथ पकड़ उसको बड़े प्रेम से आलिंगन किया। छत्रसाल महाराज के सामने हाथ जोड़ खड़ा रहा। उसका हृदय गति नहीं कर रहा था। उसको इस प्रेम से बुलाने वाले पहले-पहल आज महाराज ही मिले। शिवाजी महाराज तेजस्वी वाणी में बोले—'वीर!

नरसिंह !—तू अपनी जन्मभूमि में स्वतन्त्रता का झण्डा फहरा। मैं तेरे पार्श्व में खड़ा हूँ। मेरे तीस हजार सवार तेरी बगल में खड़े हैं। माता विन्ध्यवासिनी की शरण में जा !—अपनी जन्मभूमि को जगा—जा, नरसिंह ! तू बुन्देलों को जाग्रत कर दे। तुझे यही शोभा देता है। जीवन भर एकाकी रण को झेलने वाले चम्पतराय का सिंह-सुत—कहीं सरदार नहीं बनता !'

छत्रसाल ने महाराज के चरणों में नमस्कार किया। महाराज ने उसकी पीठ थपक कर कहा : 'जा, नरसिंह ! तू अपना नाम अमर कर !'

उस दिन कुछ काल बाद जब छत्रसाल दरबार छोड़ कर निकला, तब उसके समस्त शरीर में से जाग्रत वाणी बोल रही थी। उसके हृदय में एक नये स्वप्न ने जन्म लिया था।

× × ×

और उसी साँझ, छत्रसाल और उसकी पत्नी देवकुँवरि बुन्देलखण्ड की तरफ घोड़े पर सवार होकर चल निकले—थोड़े वर्ष पहले इसी प्रकार उसका पिता चम्पतराय और उसकी माता कालीकुँवरि छापा मारने निकले थे ! तेज और छाया की तरह साथ—अर्थ और वाणी की तरह एकरूप। आज उनका जवान पुत्र उसी रास्ते चल निकला। उसकी बगल में ही देवकुँवरि का घोड़ा दौड़ रहा था। दोनों रण को जगाने के लिए जा रहे थे—"सहवीर्यं करवावहै"—मानो इस उपनिषद् मन्त्र के मूर्तिमान् आचरणरूप।

× × ×

और थोड़े दिन बाद, पूर्वजों की शिक्षा का अतिक्रमण करके केवल अपनी तलवार पर आधार रख कर, पर्वतमाला में फना हो जाने का संकल्प करके, उस समय तो जीवन के प्रथम ही चरण पर खड़ा हुआ, विन्ध्यवासिनी के स्वप्न से भरा हुआ, इक्कीस वर्ष की

उगती जवानी का तरुण, छत्रसाल; जब केवलमात्र पाँच सवारों के साथ दिल्ली की हजारों की सेना का सामना करने के लिए भगवती नर्मदा के जल को लाँघ गया, तब उसकी संगमरमर की पर्वतमाला डोल उठी—मानो यह कहती हो कि 'कोई शिल्पी उस वीर-मूर्ति को गढ़े, तब हमारे में से किसी को यह भाग्य मिले—हमारे में से किसी को यह भाग्य मिले, काश !'

राज धर्म

एकान्त मधुर रात्रि थी। नवयौवना स्त्री थी, सुरूपवती थी, और फिर स्वयं ही प्रेम की याचना कर रही थी। पुरुष को इसकी अपेक्षा अधिक नशा और किसी बात का नहीं चढ़ता।

महाराज छत्रसाल के जीवन में अनेक विकट प्रसंग आये थे; आज अधिक विकट प्रसंग था।

उसने बहुत युद्ध जीते थे; आज का युद्ध विचित्र था।

एक क्षण के लिए तो महाराज छत्रसाल विचार-निद्रा में मग्न हो गये।

'पर बाई ! तुम ने मुझे बुलाया है, अपना दुःख कहने के लिए। और दुःख तो तुम ने कहा ही नहीं।'

'दुःख ? - न, न. मैंने तो पत्र में लिखा था—वेदना, व्यथा—शरीर को ज्वाला डालने वाली महाव्यथा।'

'तुम्हारा नाम ?'

'प्यारी बाई भाटिनी।'

'तो अपनी व्यथा बताओ।'

'व्यथा—तो महाराज !—' क्षणभर के लिए उसके मुख पर स्त्री-सहज लज्जा की लालिमा प्रसृत हो गई। पर इससे तो उसका यौवन और अधिक शोभित हो उठा, तथा और अधिक आकर्षक भी बन गया।

प्रत्येक स्त्री को पता होता है, और प्रेम की याचना करने जैसी धृष्टता करने वाली मोह-मुग्धा स्त्री को तो और भी अधिक पता होता है—कि उसके अपूर्ण उत्तरों में उसकी सम्पूर्ण विजय रहती है; उसके अर्ध-संदिग्ध उत्तरों में रतिनाथ का शर रहता है; उसकी लाज-भरी लाली में विचित्र आकर्षण रहता है। प्यारीबाई अधिक नहीं बोली—पर मोहक दृष्टि से महाराज को निहारती रही।

'पर तुमने मुझे पत्र लिखा, दुःख कहने के लिए बुलाया, मैं राजा के रूप में तुम्हारे पास आया हूं, और तुम्हारी दुःख की सी स्थिति तो नहीं लगती।'

मर्यादा के सारे द्वार धृष्टता ने जीत लिये थे। प्यारीबाई भाटिनी ऐसे बोली जैसे कि स्वच्छन्दता में आनन्द ले रही हो : 'मैंने तुम्हें इसीलिए तो बुलाया है, मैं अनाथ हूँ। जैसे पुराण में सुना है, वैसे वैसे ही मुझे सनाथ करो—मुझे तुम्हारे जैसा ही एक पुत्र चाहिए। नहीं तो स्त्री-हत्या का कलंक तुम्हारे कपाल में लगेगा ही।'

महाराज छत्रसाल दिङ्मूढ़ बन गये—विचार में पड़ गये। प्यारी बाई की आत्महत्या के पाप से काँप उठे। धीरे धीरे शान्ति से उन्होंने जवाब दिया :

'तुमने यही कहा न कि तुम्हें एक पुत्र चाहिये ?'

'बस हां, महाराज !'

'और वह भी मेरे जैसा ही क्या ?'

'हाँ, महाराज !'

प्यारी बाई भाटिनी दो-चार पग पीछे हट गई।

'अरे ! महाराज !—ऐसा नहीं हो सकता'—इस प्रकार कहती हुई वह दो-चार पग और पीछे हट गई। अचानक महाराज छत्रसाल उसके चरणों के पास लम्बे होकर दण्डवत् कर रहे थे; माथा उसके चरण पर रखकर कह रहे थे : 'मां ! बोलो, मां ! मैं ही तुम्हारा पुत्र हूँ ! मैं ही तुम्हारा पुत्र। बोलो माँ, क्या आज्ञा है !'

× × ×

प्यारीबाई भाटिनी के नेत्रों में से महाराज छत्रसाल के माथे पर आँसू इस प्रकार झर रहे थे—मानों अनंग भस्म शान्त कर रहे हों।

आजन्म वैरागी

उस समय मगध और बंगाल में महीपाल की सत्ता थी।

उसके आधीन रहकर माण्डलिक राजा कल्याण—श्री विक्रमपुरी में राज करता था। अपनी रानी प्रभावती से कल्याणश्री के तीन पुत्र हुए : पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ।

विक्रमपुरी के 'काननध्वज' प्रासाद का परित्याग करना और भगवान तथागत की तरह ऐच्छिक गरीबी अंगीकार करना, यह महाभाग्य कुमार चन्द्रगर्भ के कपाल में लिखा था।

ऐसा महाभाग्य किसी को ही मिलता है ! इस सर्वत्याग के महाधर्म को कोई ही स्वीकार करता है। कुमार चन्द्रगर्भ ने इस मार्ग को स्वीकार किया।

एक दिन जंगल में घूमते घूमते उसे समाचार मिला कि महापण्डित जेतारि यहीं कहीं आसपास रहते हैं।

खोजते खोजते राजकुमार महापण्डित से मिलने चला। उनके पास जाकर नम्रतापूर्वक अभिवादन करके बैठ गया।

जेतारि ने पूछा : 'कौन हो ?'

कुमार चन्द्रगर्भ ने उत्तर दिया : 'इस देश के स्वामी का मैं द्वितीय पुत्र होता हूँ !'

ऐसी वाणी सुनने की जिसे आदत न थी, या आवश्यकता न थी, उस जेतारि ने शान्त वाणी में जवाब दिया : 'हमारा कोई देश नहीं, कोई स्वामी नहीं, कोई दास नहीं। तू धरणीपति का पुत्र है, तो तुझे यहाँ से चले जाना चाहिए। हमारे लिए तो कोई धरणीपति नहीं है।'

कुमार चन्द्रगर्भ ने वैरागी जेतारि के इन शब्दों में विद्यमान सर्व-त्याग के सामर्थ्य का दर्शन किया और वह उसके चरणों में लेट पड़ा 'भगवन् ! अब आप ही मुझे मार्ग दिखाइये। जिस उपासना के द्वारा सकल विश्व में कोई स्वामी के रूप में या दास के रूप में नहीं रहता, वह ज्ञान आप ही मुझे दीजिये !

'इस ज्ञान की उपासना के लिए तुझे भगवान् तथागत की चरण-धूलि से पवित्रीभूत नालन्दा विद्यापीठ की भूमि में प्रवेश करना पड़ेगा। उसके बिना यह नहीं मिल सकता।'

कुमार चन्द्रगर्भ भिक्षु बनने के लिए चल दिया। नालन्दा विद्यापीठ के स्थविर बोधिभद्र के सामने बारह वर्ष की कोमल वय का बालक, जन्म आजन्म वैरागी की महाप्रशान्त मुख-मुद्रा से खड़ा हो गया, और जब नतमस्तक होकर 'श्रमण-दीक्षा' के लिए उसने वस्त्र ग्रहण किया, तब किसी के अन्तःकरण में यह ख्याल भी नहीं था कि यह छोटा-सा बालक दीपंकर श्रीज्ञान बनकर नालन्दा विद्यापीठ की दिगन्तव्यापिनी कीर्ति फैलाने वाले आचार्य शान्तरक्षित की तरह, हिमालय के उस पार भारतवर्ष का विश्व-शान्ति का सन्देश ले जायगा।

जन्मभूमि के अन्तिम साथी

भगवान् तथागत द्वारा प्रज्वलित किया हुआ ज्ञान-प्रदीप, भारतवर्ष की सीमाओं को लाँघकर दूर दूर के प्रदेशों में प्रकाश दान कर रहा था।

जीवन शान्ति के लिए, ज्ञान के लिए, प्रकाश के लिए, सेवा के लिए, और समर्पण के लिए है; यह भावना भारतवर्ष की चारों दिशाओं को भेदकर हिमाद्रि के उत्तुङ्ग शिखरों के उस पार —तिब्बत के मैदानों में फैल गई थी : उस समय तिब्बत में राजा येशे-ओ [ज्ञानप्रभ] का शासन था।

विक्रम-शिला का महाविहार उस समय उन पण्डितों से शोभित हो रहा था, जिन्होंने ज्ञान की उपासना में ही सर्वस्व अर्पण कर दिया था। जिन्होंने संसार और राजपाट का मोह छोड़ कर बारह वर्ष की कोमल आयु में ज्ञान-भिक्षु बनने की तय्यारी की थी और पचास-पचास वर्ष के ज्ञान-यज्ञ के अन्त में ज्ञान-मूर्ति-रूप बन गये थे—वे भगवान् अतिशा—आचार्य दीपंकर, उन महापण्डितों के प्रधान पद पर थे। वे ही एक समय विक्रमपुरी के कुमार चन्द्रगर्भ थे।

तिब्बत में भगवान् तथागत द्वारा प्रकट किया हुआ प्रकाश क्षीण होता जाता है—यह देख कर राजा ज्ञानप्रभ ने भारतवर्ष से धुरन्धर पंडितों को बुलाने का निश्चय किया। पर इस निश्चय के क्रिया में आने से पहले ही राजा ज्ञानप्रभ पड़ोसी राजा के हाथों पकड़ा गया और कैद हो गया।

शत्रु-राजा ने राजा को मुक्त करने के लिए उसके कुमार चङ्-छुप्-ओ (बोधिप्रभ) के पास मुक्ति-दण्ड के लिए कहलाया। बोधिप्रभ सुवर्ण लेकर वहाँ पहुँचा। दुश्मन राजा की माँग की अपेक्षा सुवर्ण

कम पड़ गया। पिता को आश्वासन देने के लिए, तथा, और अधिक सुवर्ण लेकर शीघ्र ही वापिस लौटूंगा—यह समाचार कहने के लिए वह कारागार में गया।

ज्ञानप्रभ ने कुमार से कहा : 'पुत्र ! भारतवर्ष से पण्डितों को बुला कर अपने देश में ज्ञान-दीप जाग्रत करने के लिए जो सुवर्ण इकट्ठा किया है, उसको तू ऐसे काम में लगाता है। क्या यह उचित है ?'

कुमार बोधिप्रभु ने उत्तर दिया : 'पिताजी ! आप वृद्ध हैं। अब आपको भी शान्ति मिलनी चाहिए।'

पिता ने जवाब दिया, 'हे पुत्र ! मैं वृद्ध हूँ। मेरा शरीर अब राज-धर्म के लिए शक्तिशाली नहीं रहा। आज नहीं तो कल, यह शरीर नष्ट हो ही जाना है। अब तू मेरी चिन्ता छोड़ कर ज्ञान के लिए संग्रह किए हुए धन का ज्ञान-दीप प्रकट करने में ही उपयोग कर। भगवान् अतिशा को सन्मानपूर्वक बुला कर अपने देश में ज्ञान की ज्योति जगाने के कार्य के लिए उद्यत हो। ऐसे समय में नश्वर शरीर का मोह नहीं होना चाहिए।'

'और पिताजी ! आप ?'

'मुझ जर्जरित को अब किस का भय है ? शरीर जेल के बाहर नष्ट हो या यहीं नष्ट हो, इसमें क्या पड़ा है ? मोह में पड़ कर तू अपनी धर्म-भावना को मत छोड़।'

कुमार गद्-गद् कण्ठ से अधिक न बोल सका। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उसने दोनों हाथ जोड़ कर नमन किया और माथा उसके चरणों में रखा। वृद्ध पिता का आशीर्वाद देता हुआ हाथ उसके माथे पर एक क्षण के लिए टिका या न टिका—कि इतने में ही राजाज्ञा हो गई और कुमार ने भारी हृदय से पिता से अन्तिम विदाई ली।

शरद् ऋतु के निर्मल बादल जैसे अनेक भिक्षुओं से शोभित विक्रमशिला विद्यापीठ में जब तिब्बत के यात्री आये, तब वहाँ का

परमशान्त वातावरण देख कर दिङ्मूढ़ बन गये; जहाँ देखो, वहाँ अन्तेवासी मन्द सुमधुर स्वर से आसव की परिशुद्धि के अर्थ की चर्चा कर रहे हैं; कुछ अर्थ करते हैं, कुछ अर्थ समझते हैं। कोई सेवा कर रहे हैं; कोई परमशान्ति में ध्यानस्थ बैठे हैं। कहीं कलह नहीं, अशान्ति नहीं, उतावली नहीं।

तिब्बत निवासी यात्रियों ने जब भगवान् अतिशा के पास, राजा येशे-ओ (ज्ञानप्रभ) की बन्धनागार में रहते हुए भी भारतीय पण्डितों के लिए अन्तिम इच्छा व्यक्त की, तब भगवान् इतना ही बोल सके—'ओहो ! तुम तिब्बत के लोग ज्ञान-पूजा के लिए कितनी कामना धारण करते हो। मैं वृद्ध हो गया हूँ, पर वृद्ध राजा की अन्तिम इच्छा को मान दूंगा।'

और उसके पश्चात् एक दिन संघ-स्थविर से भगवान् अतिशा ने आर्द्र हृदय हो कर तिब्बत जाने की अनुमति प्राप्त की।

बौद्ध-भिक्षुओं का एक छोटा-सा संघ बुद्ध गया की तरफ जाने के लिए इस प्रकार निकल पड़ा, जैसे कि भारतवर्ष से सदा के लिए विदा ले रहा हो। तिब्बत प्रस्थान के समय आचार्य दीपंकर को विदा देने के लिए आये हुए रत्नकीर्ति, वरोचन-रक्षित, और कनक-श्री आदि पण्डित शोक-पूर्ण हृदय लेकर, राम बिना जैसी सूनी अयोध्या, वैसी दीपंकर के बिना सूनी विक्रमशिला की तरफ वापिस लौटे।

तीन सौ वर्ष पहले इसी प्रकार नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य शान्तरक्षित ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिए भारतवर्ष से तिब्बत की ओर प्रयाण किया था और अपना शरीर हिमाद्रि के चरणों में रक्खा था। आज फिर उसी प्रकार साठ वर्ष की बुढ़ापे की अवस्था वाले आचार्य दीपंकर ने भारतवर्ष की सीमा को लांघा।

जहाँ तिब्बत और भारत की भूमि मिलती है, वहाँ आचार्य एक क्षण ठहरे; अब फिर जन्मभूमि के दर्शन नहीं होंगे, इसलिए इस

बुद्ध की चरण-धूलि से पवित्रित भूमि को एक बार नजर भर कर निहार लिया।

ऐसा एक अद्भुत सौन्दर्य विलसित हो रहा था कि जिधर दृष्टि घुमाओ, उधर ही दृष्टि गड़ जाए। विक्रमशिला विद्यापीठ की दिशा की तरफ एक लम्बी नजर कर के, भगवान् अतिशा ने प्रस्थान करने के लिए पैर उठाया—वहीं थोड़ी दूर—निराधार, अनाथ, बिल्कुल नन्हें कुतिया के तीन बच्चे दिखाई दिये। करुणामय हृदय से, मातृभूमि की अन्तिम—अन्तिम निशानी से इन तीन अनाथ पिल्लों को, साठ बरस के वृद्ध आचार्य ने अत्यन्त प्रेम से अपने चीवर में ही रख लिया। एक कदम आगे उठाकर तिब्बत की भूमि में प्रवेश किया और दूसरे कदम से मातृभूमि का स्पर्श छूट गया—आचार्य के हृदय में उसकी मधुर-स्मृति मात्र रह गई। पर चीवर में धारण किये हुए, मातृभूमि के जीवन-संगी से, निराधार, वे अनाथ तीन बच्चे उनके वृद्ध-हृदय में आज किन किन भावों को जगा रहे थे!

गुरुमन्त्र

दिल्ली नगरी के निद्राधीन नागरिको! यह दृश्य फिर फिर देखना नहीं मिलेगा! कोई जागता नहीं? पहरेदार भी शान्त है? आश्चर्य-मुग्ध बने हुए तारो! तुमको भी ऐसा दृश्य तो किसी-किसी युग में किसी-किसी बार ही देखना मिलता है न? आगामी वर्षों में तो उसकी स्मृति से ही तुम्हारे मुख पर तेज-रेखा दिखती है; सच क्या?

गुरु तेगबहादुर का शव, इह सात दिन हो गये, दिल्ली के बाजार

में पड़ा है। यह कोई बहुत अफसोस की बात नहीं! प्रत्येक वीर, प्रत्येक सिद्धान्तधारी को अपने शव की चिन्ता माता पृथ्वी के चरणों में रखनी ही होती है। पर सात सात दिन हो गये, शव पड़ा है;—नंगी तलवार के पहरे में से किसकी शक्ति है कि गुरु के शव को उठाकर उसकी अन्तिम क्रिया करने के लिए ले जाये?—किसकी शक्ति है कि सारे बादशाही लश्करी आह्वान की परछाईं में पैर भी रख सके?—और आज एक कंगाल वृद्ध बनजारा अपने जवान पुत्र के साथ वहाँ खड़ा है, गुरु के शव को सँभालने के लिए। इस दृश्य को देखने के लिए दिल्ली का एक भी मनुष्य नहीं जागता—यह सचमुच अफसोस की बात है। महाभारत की अठारह अक्षौहिणी सेना जिस मैदान में अस्ति-नास्ति हो गई, उस दिल्ली नगरी के लिए भी उस वृद्ध कंगाल बनचर लक्खी की तेज-मूर्ति अपरिचित है।

गुरु ने मृत्यु के लिए प्रयाण करने से पूर्व अपने दुधमुँहे बच्चे से कहा था: 'अब गुरुपद तुझे स्थिर रखना है। मुझे मृत्यु का शोक नहीं, भय भी नहीं। तू इस पद को वीर की तरह सँभालना। मृत्यु तो नहीं खटकती, पर मृत्यु के बाद शव की दुर्दशा हो—यह घाव बहुत तीव्र लगता है। मृत्यु तो सभी की आती है। पर शव सड़ता तो केवल उसका ही है, जिसकी प्रजा वीर्य-हीन होती है।'

और मानों उन शब्दों की झंकार से नित्य जाग्रत, जिसके होठों का दूध अभी नहीं सूखा, ऐसी कोमल आयु के गुरु गोविन्दसिंह ने, पिता की मृत्यु और शव की दुर्दशा सुनते ही स्वयमेव, एकाकी, दिल्ली के भरे बाजार में से, खड़ी शमशीर की चौकी के अन्दर से पिता के शव को अमृतसर लाने के लिए यात्रा प्रारम्भ कर दी। अकेले और खुद ही। उस समय आधीरात थी।

पर जब मनुष्य अकेला आधीरात में यात्रा शुरू करता है—मिट जाने का सिद्धान्त हाथ में रखकर, तब ईश्वर को नींद नहीं आ सकती। रास्ते में जाते हुए, अपने जवान पुत्र के साथ गाड़ी लेकर वृद्ध बनचर

लक्खी सामने आता हुआ मिला। गुरु को पहचाना। चरणों में गिर पड़ा। गुरु का संकल्प जाना। लक्खी का अन्तःकरण ऐसा ज्वलन्त बन गया, जैसे अग्नि का रस पी लिया हो। गुरु से वापस लौटने के लिये—फना हो जाने से, मृत्यु के मुख में जाने के मार्ग से, वापिस लौटने के लिए—विनती की : 'तुम नहीं, मुझे जाने दो। गुरु! मुझे जाने दो। मेरा कोई हिसाब नहीं, तुम लाखों मनुष्यों को तेजधारा पिला सकते हो। मैं जाऊँगा।'

वृद्ध लक्खी गुरु के मार्ग में से हटा ही नहीं। गुरुगोविन्द खिन्न हृदय से वापिस लौटे। और बनचर अपने जवान पुत्र के साथ दिल्ली के रास्ते पर चल पड़ा।

आज वह वृद्ध बनचर दिल्ली के बाजार में खड़ा है और उसका जवान पुत्र उसके साथ है।

गुरु का शव ले लेने के बाद, एक भी अक्षर बोले बिना, पिता-पुत्र की आँखें मिलीं—एक क्षण के लिये।

गुरु का शव ले लेने के बाद उस खाली जगह में कौन सोयेगा? पहरेदारों को दूसरे दिन धोखे में डालने के लिए गुरु की जगह कौन लेगा? नहीं तो तुरन्त खोज होगी और फिर गुरु का शव अमृतसर कैसे पहुँचेगा?

वृद्ध पिता कहता है : 'तू नहीं, बेटा, तू नहीं; तूने अपनी जिन्दगी का रस लेना है। तू जवान है। मैं वृद्ध हूँ।'

पुत्र जवाब देता है : 'ना पिता, तुम नहीं, मैं। यह तो मेरा ही हक है।'

'मैं बेटा, मैं, मैं वृद्ध।'

'ना पिता! मैं, मैं तुम्हारी चरण-रज!'

—और यह सम्वाद यदि बहुत देर तक चले तो सारा किया-कराया धूल में मिल जायगा न?—एक एक क्षण अमूल्य था। युक्ति प्रत्युक्ति का समय नहीं था। भावना प्रकट करने का समय नहीं था।

'''लक्खी की कृपाण हवा में ऊँची उछली—'वाह गुरु वाह !' इस अमर-वाणी के साथ छाती में जा घुसी और वृद्ध पिता वहाँ गिर पड़ा—अन्तिम मीठी नजर से जवान पुत्र को देखता हुआ, अजेय स्मित के साथ आशीर्वाद देता हुआ।

पिता के शव को गुरु का वस्त्र ओढ़ाकर महामूल्य गुरु का शव लेकर, आँसू भरी आर्द्र आँखों से जवान पुत्र चल निकला। उसकी आँखों में से हर्ष के और शोक के आँसू बह रहे थे।

दिल्ली नगरी के निद्राधीन लोगो ! यह दृश्य फिर दुबारा देखना नहीं मिलेगा ! कोई जागो ! अरे कोई एक बड़भागी तो जागो।

महाराष्ट्र-धर्म

शिवाजी महाराज का भगवा झण्डा सह्याद्रि की पर्वतमाला के अनेक किलों को शोभित कर रहा था।

पर खुद बादशाह आलमगीर ने अपनी जबर्दस्त सेना के साथ रण में चढ़ाई की और महाराष्ट्र-धर्म की आखिरी कसौटी शुरू होगई।

और इस कसौटी में, महाराज के अजेय माने जाने वाले रायगढ़ का पतन होगया। शम्भाजी की विधवा येसुबाई और बाल-पुत्र शिवाजी पकड़े गए। सरदार एलमाद्खाँ के इस पराक्रम से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे 'गुलिस्ताँ' का खिताब दिया। मराठे नीचा मुंह करके महाराज के रायगढ़ पर फहराते हुए मुगल झण्डे को देखते रहे। सेनापति सन्ताजी घोरपड़े और धनाजी यादवराव गढ़ के पतन का इतिहास सुनकर काँप उठे। छत्रपति शम्भाजी के वध से महाराष्ट्र

में घर घर होने वाला विलाप अभी शान्त भी नहीं हुआ था कि इतने में ही रायगढ़ के पतन का समाचार मिला।

सारे महाराष्ट्र में वेदना छागई। शम्भाजी मारे गए, उनका पुत्र भी मारा जायगा, और इस प्रकार महान् शिवाजी महाराज का स्वप्न निष्फल जाएगा—हरेक के दिल में मानों सौ-सौ खंजर भोंक दिए गए। सेनापति सन्ताजी घोरपड़े अपनी चपल घुड़सवार सेना के साथ तुलजापुर जाकर खुद बादशाह के तम्बू के ऊपर का सोने का कलश आधीरात में उखाड़ लाए थे—जहां यह वीर-वार्ता अभी गांव गांव में यात्रा कर रही थी, वहीं यह शोक-वार्ता आई कि महान् शिवाजी का पौत्र नन्हा बालक शिवाजी बादशाह के यहाँ कैद में डाल दिया गया है। महाराष्ट्र में घर घर यही कथा होती रही। राज प्रतिनिधि राजाराम इस समाचार को सुनकर छनभर के लिए शोक-सन्तप्त बन गए।

सरदार एतमादखां ने येसुबाई को वचन दिया था 'तुम्हारी जान को जोखिम नहीं होगा, और पुत्र की जान को भी जोखिम नहीं होगा। बादशाह तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं करेगा।'

शाही छावनी में राज बन्दियों को पहुँचाने पर, सरदार ने अपने दिए हुए वचन के पालन के विषय में बादशाह को विज्ञप्त किया। सबकी जान तो बच गई, पर बादशाह का फरमान आया 'किसी का बाल बाँका नहीं होगा, किन्तु सब धर्म-परिवर्तन करो और रायगढ़ में हमारे आधीन बनकर अपना राज्य सँभालो!'

जिसने घर में भवानी को पूजा होती हुई देखी थी, उस बालपुत्र शिवाजी और पुत्री भवानीबाई दोनों को प्रेम से अंगुलि से पकड़ कर रखने वाली शिवाजी महाराज की पुत्रवधू येसुबाई ने जवाब दिया—'यह नहीं हो सकता!'

बादशाह का हठ यदि उग्र रूप धारण कर लेगा, तो फिर कोई बचा नहीं सकता—इस भय से कोमल-हृदया कुमारी जीनत-उन्-निसा ने बादशाह से विनय की—येसुबाई और शिवाजी को अभय वचन देने

के पश्चात् ऐसा कहना शाही शान के लायक़ नहीं है।

सरदार जुल्फिकारखां चपल था; उसने धीमे से कहा—'नामदार, यह बालक मराठों में कलह का बीज रोपने में काम आएगा!'

पर शाही फ़रमान बिलकुल निष्फल तो नहीं जाना चाहिए। बादशाह ने हुक्म दिया—'तो तुममें से जो चाहे, कोई एक धर्म-परिवर्तन स्वीकार करले।'

येसुबाई के साथ के मनुष्यों में मृत्यु-सी शान्ति फैल गई। यदि इतनी-सी मांग भी कोई स्वीकार नहीं करेगा, तो थोड़ी देर बाद तत्काल ही बादशाह का हृदय पलट जायेगा। बोलने का समय नहीं था। विचार करने का अवसर नहीं था।

किसी की आँख भी नहीं बोलती थी। हर घड़ी शान्ति अधिकाधिक भयङ्कर होती जा रही थी।

और अन्त में उनमें से एक नर वीर आगे आया—सब देखते रहे। उसकी जवानी इतनी अधिक मोहिक थी कि पहली दृष्टि में किसी को ख्याल भी नहीं आ सकता था कि इसकी जवानी में इस प्रकार की गुप्त-शक्ति छिपी हुई होगी। वह आगे बढ़ा—अडिग पगों से; हिम्मत भरी छाती से। वह जो क़दम उठाने जा रहा है वह उसे जीवन भर कितनी वेदना देगा—इसका उसे समुचित ध्यान था। हँसते मुँह से वह सबके आगे आकर खड़ा होगया। सब दिङ्मूढ़ बने देखते रहे। अब तो शान्ति भी हज़ारगुनी गम्भीर और भयंकर लगती थी। इतने में ही उसकी स्थिर शान्ति-गम्भीर आवाज आई—

'मैं इस माँग को स्वीकार करता हूँ।'

सब आश्चर्य-मुग्ध रह गए।

बादशाह स्वयं भी इस राज-भक्ति को देखकर विचार में पड़ गए: 'पर तू? —तू कौन?—तेरे राजा के बदले में किसी ऐरे-गैरे सरदार की कोई क़ीमत नहीं!'

'मैं तो, श्रीमन्! प्रतापसिंह गुर्जर का बंशज—!'

महाराज शिवाजी के सेनापति प्रतापराय गुज्जर के पराक्रम ने तो बादशाह को अनेक रात्रियों का जागरण करवाया था। उसका नाम उन्हें लगातार स्मरण था। हरेक मुगल के हृदय में यह नाम विद्यमान था। जिसने बहुत बार शाही सरदारों को भी क़ैद कर लिया था, वह नाम क्या भूला जा सकता था ?

बादशाह ने माथा हिलाकर इस बात की मंजूरी देदी। आभार से झुका हुआ येसुबाई का हृदय जल भरी आँखों से अपने इस विश्वासी सरदार को देखता रहा। बाल शिवाजी और भवानीबाई ऐसे देखते रहे, जैसे कुछ भी न समझे हों।

पर जब यह समाचार सह्याद्रि की पर्वतमाला में पहुंचा, तब घर घर से आवाज आई : 'मराठो ! अपने घोड़ों के ऊपर जीन कसलो—तय्यार हो जाओ—तुम्हें महाराष्ट्र-धर्म याद कराने के लिए खंडो जी गुज्जर ने अपनी जान होम दी है !'

× × ×

मुगल छावनी में कानाफूसी हो रही है : 'रायगढ़ का पतन तो हो गया, पर मानव-हृदय में विद्यमान अजेय गढ़ का पतन अभी कहां हुआ है !'

वज्र वाणी

गुरु गोविन्दसिंह की वह शान्त वज्रवाणी किसी ने सुनी है ?

उस दिन तो सैंया गोदावरी का किनारा ऐसा अद्भुत बन गया था जैसे कि आज ही रामचन्द्र और सीता ने भ्रमण किया हो। भवभूति

की वाणी-सी उसकी भव्यता थी और कालिदास की उपमा-सी सुन्दरता। ऊपर से चन्द्र की अमृतधारा बरस रही थी; नीचे से माता पृथ्वी की सुधा।

इस समय गुरु अकेले शान्त बैठे-बैठे जलतरंग में खिलती हुई चाँदनी को देख रहे थे।

गुरु का हृदय आज शोक से भारी बना हुआ था। ऐसी अनुपम रजनी देख कर गुरु को पंजाब के मैदान, रावी का किनारा, काश्मीर के हरे खेत और अपनी मातृभूमि याद आती थी।

और चन्द्र की जलतरंग में खेलती हुई किरणों ने उनको दुधमुंहे बालकों का स्मरण करा दिया था। दो लड़ाई में मारे गये थे; दो धर्म के लिए काम आये थे। समर्पण-धर्म के लबालब भरे हुए प्याले का गुरु ने पान किया था। आज उसकी स्मृति के दो-चार आनन्दबिन्दु उनको विषाद-रस पिला रहे थे।

गुरु गोविन्दसिंह का लौह-रस-पायी आत्मा आज मानो अपने बच्चों का बचपन निहार रहा था! मानो अजीतसिंह और जुझारसिंह और जोरावरसिंह और फतहसिंह अपने सौन्दर्य-भरे जीवन के समर्पण के समय जैसे थे—ठीक वैसे ही—गोदावरी के किनारे पर चाँदनी में खेल रहे हों।

स्वयं फैलाये हुए लौह-धर्म की गहरी और गहरी मीमांसा में गुरु उतर गये।

क्षणभर के लिए उनको अन्दर शिवाजी महाराज के सिद्ध किये हुए स्वप्न के साथ अपनी स्वप्न-सिद्धि का मिलान करने का मन हो आया।

'ओहो! इतने वर्षों का प्रयत्न होने पर भी सिद्धि की रेखा क्षितिज में दिखाई नहीं देती।'

गुरु अर्जुनसिंह, गुरु हरगोविन्द और गुरु तेगबहादुर—तीन-तीन गुरुओं द्वारा प्रसारित वीर-धर्म का उज्ज्वल स्वप्न अभी सिद्धि से दूर

ही दूर देख कर उनका हृदय आज किंचित्—खिन्न भावापन्न हो गया है।

उनके हृदय को ऐसा भी प्रतीत हुआ कि अपना शरीर अर्पण किये बिना इस वीर-युद्ध का कलश नहीं चढ़ेगा।

उनके हृदय में ऐसा भी कुछ जाग्रत हुआ कि इस लौह-धर्म की विजय के लिए अभी एक-दो बलिदान अधूरे हैं।

किन्तु सब राग तज कर हजारों सिक्ख वीरों ने उसके लिए अपना शरीर अर्पण किया था—यह याद कर के गुरु अपने लौह-धर्म की श्रद्धा के विषय में मन्द स्मित कर रहे थे, कि इतने में ही उनके कन्धे पर उनकी पत्नी सुन्दरी का हाथ पड़ा।

ऐसी सुन्दर रजनी को देख कर दुधमुंहे बालकों की याद माता के मन में हरी हो गई थी। वह व्यग्रता से बाहर निकल कर घूमते-घूमते गुरु के पास आ पहुंची थी।

गुरु ने मुड़ कर पीछे देखा।

माता सुन्दरी का सारा शरीर ऐसा जड़ बन रहा था, जैसे कि मृत्यु की ठण्डी सत्ता के आधीन हो। उसकी निश्चल आँखें ऐसी स्थिर हो गई थीं, मानो गोदावरी की उस ओर की पर्वत-माला में कुछ खोज रही हों। उसने कुछ व्यग्र, कुछ उग्र वेदना-भरी आवाज में गुरु से पूछा—'मेरे पुत्र—मेरे चार पुत्र—कहाँ हैं ?'—

गुरु के नेत्र एक क्षण नीचे झुक कर जमीन की ओर देखते रहे।

माता की आवाज में वेदना बढ़ती गई 'मे.....रे चा.....र पु.....त्र क.....हाँ हैं ?'—उनके बिना यह आँगन मुझे घोर अन्धकारमय प्रतीत होता है। देखो तो वहाँ, उस पर्वत शिखरमाला में कहीं ये चार पुत्र तुम्हें दिखाई देते हैं ?'

गुरु ने जमीन पर से अपनी दृष्टि ऊँची उठाई और क्षण भर के लिए छू गई खिन्नता को परे भगाते हुए इस [illegible] किया—

'पर्वतमाला की शिखरावलि में और सतलुज-रावी के मैदानों में मुझे तो जगह-जगह अपने पुत्र दिखाई देते हैं। चार के खून देते ही, असंख्य लौह-धर्म का वरण करने वाले पुत्र तय्यार हो गये हैं। तुम पुत्रों को ढूंढने निकली हो; तुम्हें वह जगह नहीं मिलती, जहाँ पुत्र हों; और मुझे कोई जगह ऐसी दिखाई नहीं देती जहाँ पुत्र न हों।'

नदी गोदावरी का पानी इस प्रकार भारी-भारी हो कर बह रहा था जैसे कि इस वज्रवाणी को सुन कर लोह-रस-रूप बन गया हो।

गुरु गोविन्दसिंह की यह शान्त वज्रवाणी किसी की स्मृति में जड़ी हुई है क्या?

वन का शब्द

ईरान के शाहअब्बास का हृदय समुद्र के आनन्द से हिल सा उठा।

आज पहले पहल उनको मालूम हुआ कि महलों की दीवारों के बीच सौन्दर्य को प्राप्त करने का उन्होंने व्यर्थ प्रयत्न किया था। हजारों और लाखों की कीमती से कीमती ईरानी और तुर्की शतरंजियाँ भी जिसके सामने कुछ नहीं, ऐसे गलीचे की तरह हरे भरे शाद्वल प्रदेश को नजर की पहुँच तक फैला हुआ देख कर उनका हृदय अस्थिर हो गया। जहाँ कहीं भी देखो, सरल सुन्दर निर्झर प्रवाहित हो रहा है। छोटी-छोटी टेकरियों के इधर मानस रमणीय शब्द बोल रहे हैं। स्थान-स्थान पर सरु की लम्बी परछाया के पास हरिण बैठ गये हैं। दूर पर्वत के इधर ग्वाले ढोर चरा रहे हैं; पास में ही छोटी छोटी गायिकाएं विचर रही हैं। एक स्थान पर गजब की बाँसुरी बजाता

हुआ एक गडरिये का छोकरा बैठा है। उसके पीछे के वृक्ष पर किंशुक के पुष्प इस प्रकार शोभित हो रहे हैं मानो अन्तःकरण प्रस्फुटित हो उठा हो।

शाहअब्बास का हृदय विचलित हो उठा, उनको लगा कि उन दीवारों में घिरी हुई हजारों चीजें निकृष्ट सौन्दर्य का कृत्रिम ढोंग कर रही है।

यहाँ की एक-एक चीज—झरना, पेड़, पानी, छाया, हरिण, ग्वाला, बाँसुरी एक-एक चीज में सौन्दर्य था। और हरेक चीज दूसरी को अधिक सुन्दर बना रही थी—और दूसरी के कारण स्वयं भी सुन्दर बन रही थी। विशाल प्रासाद में संग्रह की हुई हजारों लाखों की बहुमूल्य चीजें जो कृत्रिमता उत्पन्न करती है, अशुद्ध दृष्टिकोण के ही कारण जिस असंगत वातावरण का निर्माण कर देती है—वैसी कोई चीज यहाँ नहीं मिलती। दृष्टि दौड़ते-दौड़ते थक जावे, इतनी लम्बी दिशा—नीले मैदान से भरी हुई; और उसमें अनेक आकर्षण जगह-जगह बिखरे हुए। प्रत्येक का व्यक्तित्व पृथक्—और फिर भी समग्र प्रभाव में हरेक का हिस्सा किसी सुन्दर रस-गति में सप्रमाण बुने गये शब्दों की तरह, सब कुछ प्रकृति के अनुरूप बन गया था। इसे देख कर शाहअब्बास आश्चर्य-चकित हो गये।

और वह मोहक बाँसुरी का स्वर ऐसे आ रहा था, मानों इन सब स्वप्नों को चेतनता से भर रहा हो।

शाहअब्बास धीरे-धीरे उसके पास गये। उससे पूछा—'यह तू क्या करता है छोकरे?'

अपनी ही तान में मस्त छोकरा बाँसुरी बजाता ही रहा।

और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों प्रकृति—मानों आलस्य छोड़ कर बैठी हुई स्वप्नस्थ सुन्दरी की तरह—चेतनामय बनती गई। गायों ने कान हिलाने शुरू किये; हरिण उठ कर इस दिशा की तरफ चलने लगे; धीर मन्द पवन वृक्षों का आलिंगन करने लगा;

सारसयुग्म मन्द-मन्द मस्त लचकीली चाल से मानों एक दूसरे से मिलने के लिए चल दिये; सरु की परछाया हिलने लगी; झरनों का जल अधिक वेग से बहने लगा; पवत प्रतिध्वनित हो उठे; पर्वत-माला शब्दायमान हो गई। प्रकृति मानों अंग-अंग में चेतनामय बन गई।

अपने आयुष्यकाल में पहली बार ऐसी परम-शान्ति देख कर शाह अब्बास का हृदय आनन्द से ओत प्रोत हो गया।

उन्होंने उस ग्वाल बाल से पूछा—'तुझे ऐसी मोहक बाँसुरी किस ने सिखाई ?'

छोकरे ने जवाब दिया—'श्रीमान् ! इसमें सिखाना नहीं होता; सीखना होता है। यह अपने आप ही आ जाती है। जंगल और बाँसुरी ये दोनों हम को माता ने दूध में ही दे दिये हैं।'

'तेरी माँ क्या करती है ?'

'मेरी माँ ?—वह भी यह ही; अंधेरी रात में कहानी कहती है, चाँदनी रात में गीत।'

'और दिन में ?'

'दिन में ?—श्रीमान् ! हमारे मन में दिवस जैसी कोई चीज ही नहीं। हमारा काम खतम तो दिन भी खतम।'

शाहअब्बास को लगा कि यह छोकरा बहुत होशियार है। इसको ठीक ज्ञान दिया जावे, तो यह राज्य के लिए शोभा बन सकता है।

फिर तो बादशाह ने उसको अपने पास रख कर धीमे-धीमे सिखा-पढ़ा कर राजकाज में प्रवीण कर दिया और बहुत ही विश्वास-पात्र को दिया जाने वाला कोषागार उसको सौंप दिया।

अलीबे ने भी एक-निष्ठा से शाह अब्बास की सेवा की और अपना कोषाध्यक्ष का कर्तव्य उचित रीति से निबाहा।

× × ×

परन्तु शाह अब्बास के मरने के बाद अलीबे के उत्कर्ष के विरुद्ध

प्रचण्ड षड्यन्त्र उठ खड़ा हुआ। नये बादशाह—शाह अब्बास के पुत्र के निकट चर्चा शुरू हुई।

लक्ष्मी के मद में विवेक-बुद्धि बहुत बार ऐसा-वैसा कार्य करवाती ही रहती है। उसने अपने भक्तों के दिल में मदिरा-जैसी मादक मोहिनी रख दी है।

किसी ने कहा—'महाराज! अलीबे सर्वस्व लिए जाता है!'

दूसरे ने कहा—'ले गया है।'

तीसरा बोला—'वह तो दूसरे की तकलीफ़ बचाता है।'

यौवन को शब्द बहुत पसन्द आते हैं—अर्थ कम। शाहअब्बास के पुत्र ने भी कहा—'और एक रत्नजटित शाही तलवार का भी पता नहीं है।'

'तलवार तो होगी—केवलमात्र रत्न ही नहीं होंगे।'

और अलीबे की तलाशी शुरू हुई। रत्न-जटित तलवार के रत्न शाह अब्बास ने दूसरे काम में प्रयुक्त कर लिए थे—ऐसा निकला।

पर शाहजादा जवान था—अविवेकी था।

ऐसों को हारा हुआ दाँव अखरता ही है। ऐसे समय बुद्धि चुप रहती है, शब्द बोला करते हैं।

'अलीबे! अपना कोषागार एक महीने में व्यवस्थित कर के सौंप दो।'

अलीबे ने ऐसा जवाब दिया, जो केवल जंगल का बालक ही दे सकता है—'महाराज! महीने भर बाद किस लिए?—अब भी पाई पाई का हिसाब साफ़ है।'

तलाशी शुरू हुई। हरेक की हरेक चीज ठीक थी। सरदार नरम पड़ गये। बादशाह लज्जित हो गये। कोषागार से वापिस लौटते हुए एक पुरानी-सी बन्द कोठरी पर उनकी नजर पड़ी।

'अलीबे! इसमें क्या है?'

'महाराज ! यह तो निकम्मी कोठरी है।'

रत्नजटित तलवार की धुन दिमाग में सवार थी। सब को शंका हुई कि तलवार इसी में होगी।

'यह कोठरी खोलो।'

'श्रीमान् ! इसमें सब मेरा बना बखेड़ा है, और कुछ नहीं।'

अब शंका और दृढ़ हो गई। सब ने कोठरी देखने के लिए आग्रह किया।

अलीबे ने काँपते हाथों से ताला खोल कर कोठरी के किवाड़ खोल दिये।

सब दिङ्मूढ़ हो कर कोठरी के अन्दर देखते ही रह गये।

गरीब से भी गरीब घर में जैसी होती, ऐसी एक फटी गुदड़ी, एक बन्दगी की तसबीह (माला), एक बाँसुरी का काठ, पानी पीने का एक मटका। सारी कोठरी दरिद्र—स्वच्छ—सादी थी।

और कुछ नहीं मिला—हवा करने का एक पंखा भी नहीं, एक बिछाने का कपड़ा भी नहीं।

बादशाह को आश्चर्य हुआ : 'अलीबे ! यह क्या ? तुम इसमें रहते हो ?'

'श्रीमान् ! यह मेरे रहने का स्थान है। जिसने मुझे इतनी सत्ता दी, उसको याद करने के लिए यह शान्त स्थल है। एक माला है; बचपन की संगी जैसी वह बाँसुरी वहाँ पड़ी है, और रात को सोने के लिए यह गुदड़ी !'

बादशाह दिभ्रान्त रह गया। अलीबे की कोठरी की गरीबी उसे रत्नजटित तलवार की अपेक्षा भी बहुमूल्य मालूम हुई। उसने जल्दी से अलीबे से कहा :

'मैं तुम्हें इसी जगह पर कायम करता हूँ; और तुम्हारा दर्जा भी बढ़ाता हूँ !'

'महाराज !'—अलीबे ने जवाब दिया : 'आपकी दृष्टि शुद्ध हो गई, यही मेरे लिए बहुत है। पर मैं गड़रिया हूँ। वह मेरी बचपन की साथी बाँसुरी अब मुझे ताना दे रही है !—वह बहुत दिनों तक मूक बनी रही। मुझे तो, भूले हुए बालक को जैसे माँ बुलाती है, वैसे ही मेरा जंगल का शब्द फिर बुला रहा है—कह रहा है। "बेटा ! लौट आ, लौट आ ! तू हमको भूल गया, पर अभी हम तुझे नहीं भूले।" इसीलिए मैं अब आज से आपसे विदा माँगता हूँ !'

उसने अपनी फटी हुई गुदड़ी और पुरानी बाँसुरी ले ली। एक हाथ में माला उठाली; एक हाथ में मटका ले लिया। और सबको माथा नवाकर सलाम करता हुआ और माफी माँगता हुआ वह वहाँ से चल दिया !

× × ×

बादशाह के गले के हीरक-हार का फीका तेज कोषागार की दीवारों पर फैल रहा था।

मातृ-चरण

किस महातृषा से पीड़ित तू—अलख को जगाने वाला, निरंजन को निहारने वाला, समाज के व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म को सींचने वाला —कौनसी महातृषा से पीड़ित होकर—आज फिर—महाराष्ट्र में आकर अपनी जन्मभूमि की तरफ पग रख रहा है ?

ऐसी वह कौनसी महातृषा है रे अवधूत ! जो तुझे भी जन्म-भूमि की तरफ खींच रही है ?

नारी के हृदय में ऐसी वह कौन सी विश्वमोहिनी भरी है कि माता के रूप में अथवा अर्द्धाङ्गिनी के रूप में—बालक जैसा निरवलम्ब बनकर अथवा प्रेमी जैसा पागल बनकर, धरती के चाहे किसी भी किनारे पर हो, वहीं से पुरुष और उसको अपना अर्घ्य देने के लिए चल निकला है ?

रे जोगी ! आज तुझे भी माता की गोद याद आ गई है क्या ?

श्री रामदास स्वामी अपनी जन्मभूमि जांब की मनोहर वनराजि देखते देखते आज वर्षों पीछे घर की तरफ वापिस लौट रहे हैं !

इस जोगी को भी लगन लगी है कि एक बार माता रेणुबाई के चरण-कमल की रज मस्तक पर चढ़ाकर थोड़ी देर के लिए नन्हा 'नारायण' बन आऊँ—और श्री रामदास स्वामी का महापद माता के पास रख आऊँ !

आज ये अपना गाँव छोड़कर—अपने गाँव वापिस लौटे हैं। उस दिन जो नन्हा नारायण था, आज वही श्री रामदास स्वामी हैं।

छोटे-छोटे गाँवों की उजाड़ गलियों में महासमर्थ अवधूत की अलख सुनाई दी—'जय-जय श्री रघुवीर समर्थ !'—और गली गली से नर-नारी के वृन्द उमड़ पड़े। धरती मानों नये सौभाग्य से प्रदीप्त हो उठी।

घर घर अलख जगाता हुआ महाजोगी अपनी बचपन की गली की तरफ बढ़ा।

अनेक पैबन्दों से मढ़ी हुई उनकी चिर-परिचित गली अभी वैसी की वैसी थी—चौबीस वर्ष पहले जैसी छोड़ी थी—वैसी की वैसी ही।

खुला हुआ द्वार अतिथि अभ्यागतों को निमन्त्रित कर रहा था। और एक गाय और एक कुत्ता दोनों वहाँ ऐसे खड़े थे, मानों इस आमन्त्रण को स्वीकार कर रहे हों। एक ठूँठ से पेड़ पर एक कौआ बैठा हुआ था। तुलसी के गमले के पास बैठी हुई बिल्ली ने

'उसको निहारना व्यर्थ है' यह सोचकर आँखें मींच ली थीं और उसके इस ढोंग को जाहिर करने के लिए दो तीन गटारें आकाश-पाताल एक कर रही थी। बाल-सूर्य की किरणों में वृद्धमाता आंगन में खाट डाल-कर बैठी हुई थी, हाथ में माला थी; मुँह में रघुवीर का नाम था।

और इतने में दिशा-दिशा को भरता हुआ जोगी का अलख सुनाई दिया : 'जय जय श्री रघुवीर समर्थ !'

माता राणुबाई के दिल को, जन्मसिद्ध जोगी की आवाज में—बालक जैसी—जराक अपने नारायण की आवाज जैसी, आवाज हो ऐसा आभास हुआ। पर आज वर्षों बाद वह कहाँ से ? जिसके लिए रो रोकर आँखें गँवा दी थी, वह नारायण—यहाँ कहाँ से होगा ?

अन्धमाता ने बहू से कहा—'जोगीराज को भिक्षा दो !'

'आज तो माँ ! चुटकी-भर भिक्षा से मुझ जोगी का पात्र नहीं भरेगा। ऐसी भिक्षा दो अपने अक्षय-पात्र में से—मां ! कि घर घर कण-कण बाँटता जाऊँ और घर घर दीपक जगाता जाऊँ !'

अन्धमाता राणुबाई सुनती रही। आवाज में से बारह वर्ष के नारायण की मूर्ति मानों खड़ी होने लगी।

'आज का भिक्षु, माँ ! भिक्षा लेकर चला जाने वाला नहीं !'

माता राणुबाई के कण्ठ में से गद्गद् आवाज निकल पड़ी :

'यह तो मेरा नारायण है !'

और जाने एक भी दिन न गया हो, यह सोचकर माँ अपने बारह वर्ष के नारायण को हाथों में उठाने के लिए आगे बढ़ी।

पर महाजोगीन्द्र की काशी, अयोध्या, हरिद्वार, हिमालय—सब स्थलों की पवित्र धूलि से भरी हुई जटा हाथ में आई। केशावलि से शोभित मस्तक से और मुँह के स्पर्श से माता को पहले-पहल भान हुआ कि यह नन्हा बारह वर्ष का नारायण नहीं है—ये तो उसके ऊपर और चौबीस वर्ष बीत गये हैं !

'बेटा ! नारायण ! बहुत बड़ा हो गया है रे ! हमको छोड़कर इस प्रकार चले जाते हैं क्या ?'

और महासमर्थ जोगी की आँख के आँसू माता के चरणों के पास पड़ने लगे !

जोगीन्द्र माता की छाया में इस प्रकार नतमस्तक खड़ा रह गया, मानों श्री रामदास स्वामी का महापद 'बेटा नारायण !' के सामने तुच्छ सा—किसी तुलना में न हो; और 'बेटा नारायण !' इस शब्द को श्रवण करने में तल्लीन बन गया।

'नारायण बेटा ! तू कितना बड़ा लगता है ? मैं तुझे देख सकी होती !···

'बेटा नारायण !'

घड़ीभर में सारा कुटुम्ब एकत्रित होने के कारण महा आनन्दी स्वरों के द्वारा वह छोटा-सा मुहल्ला गूँज उठा। वह दिन और उसके बाद बहुत से दिन।

× × ×

जिस प्रकार बारह वर्ष के नारायण की घड़ी आई थी, वैसी ही घड़ी—वियोग की—जोगीन्द्र रामदास की फिर आई।

'माँ ! अब विदा दो—माता गोदावरी बुला रही है !'

राणुबाई ने सजल नयनों से विदा दी। पर एक बात माँग ली : 'एक बार—जब स्मरण करूँ तब—नारायण ! तू फिर आना।'

'आऊँगा, माँ ! जरूर एक बार आऊँगा। मुझ जोगी का अक्षय पात्र अनेक माताओं ने प्रेम से छलाछल भरा है। इसका कण कण जन-गण में बाँटते बाँटते किसी समय फिर इसको भरने के लिए तुम्हारे आँगन में जरूर चला आऊँगा माँ !'

और वे अपना जोग सँभालने के लिए चल दिये।

× × ×

री नारी ! तू बड़भागी है। तूने पामरों में से पुरुषों को उत्पन्न किया है; पुरुषों में से पुरुषोत्तमों को। और तेरे चरण की रज का एक कण लेने के लिए बड़े बड़े जोगीन्द्र और ज्ञानी फिर फिर बालक बने ! नारी ! तू धन्य है ! तुझे धन्य है !

राजलक्ष्मी

कौन यह अभागी नारी, इस समय, अपने शरीर को चीथड़ों से जैसे-तैसे ढँककर, राजमहल में से निकल—'पुण्यवान् नरनारियो ! मुझ भिखारिन को अपने भरे भण्डार में से एक मुट्ठी अनाज दे दो—लज्जा ढंकने के लिए कोई चीथड़ा फेंक दो'—ऐसे कहती कहती वन को जगाती चली जाती है ?

यह कौन नारी राजमहल को छोड़कर ऐसी अन्धकार घिरी रात में अकेली वन में निकल पड़ी है ?

यह कौन है, जो भयानक मार्ग को, गहरे विषाद-भरे आर्तनाद को, मूक तारों और मूक वन—मूक पहाड़ और मूक दुनियाँ—सबको जगा रही है ?

किसके हृदय में यह हजारों विषधरों की वेदना सुलग उठी ? कोई मर्द का बच्चा जब बाहर पैर तक न रख सके—ऐसी भयानक रात्रि में वनखण्डी के मार्ग पर—'मुझ भिखारिन को एक मुट्ठी अनाज दे दो—भाग्यवन्त नरनारियो !' इस प्रकार दुःख भरी पुकार करती हुई यह कौन चल निकली है ?

यह तो महान् बाजीराव की पुत्रवधू—पेशवा माधवराव की माँ !

—नारायण पेशवा की जननी गोपिकाबाई !

आज यह अभागी नारी अपना गंगापुर का सुन्दर महल छोड़कर श्री रघुवीर चरणाङ्कित पंचवटी के ऊपर दृष्टि डाल रही है। जहाँ-जहाँ वैभव होता है, वहाँ वहाँ ऐसे विषधरों की ज्वाला दिखाई देती है।

यह आज चित्त की शान्ति खोजने के लिए निकली है ! यह आज किसी की चरण-रज के द्वारा मन का समाधान करने निकली है। इसका हृदय इसको अन्दर से कुरेद रहा है। इसके अन्तःकरण में हजारों आवाजों जैसा एक ही शब्द बोल रहा है !—'अरे नारायण राव बेटा !—तू भी न रहा ?'

इसके द्वारा स्वीकृत शास्त्र धर्म ने इसके पास से अब तक लोह-सदृश हृदय की याचना की थी। पानीपत की तीसरी लड़ाई में, जब बड़े पुत्र विश्वासराव ने वीर-मृत्यु पाई थी, तब वीर-माता की तरह इसने वह घाव झेल लिया था।

माधवराव की महत्ता से उसका मातृहृदय फिर खिल उठा।

अट्ठाईस वर्ष की भरी जवानी की उम्र में महाराष्ट्र को और माँ को भटका कर वह चला गया।

फिर नारायणराव के ऊपर गोपिकाबाई का चित्त था : 'यह भी मेरा ही पुत्र है न ?—यह भी रण का आह्वान करेगा।' किन्तु नारायण राव का खून हो गया।—तीन-तीन वीर-पुत्रों को होमने के बाद, अब आज गोपिकाबाई का हृदय द्रवित हो गया।

उसको लगा कि विषाद का प्याला लबालब भर गया है। अब उसमें एक भी बूँद नहीं समा सकती।

उसके हृदय में द्रोण का शस्त्र-सन्यास उग उठा। राजलक्ष्मी की विष-वल्लरी के प्रति उसके दिल में खिन्नता पैदा हो गई।

—और वह गंगापुर का महल छोड़कर चल निकली। आधी रात,

अन्धकार घिरा मार्ग। उसको पंचवटी बुला रही थी। भिक्षान्न में उसे शान्ति दिखाई देती थी।

मैया गोदावरी का जल अभी तक स्थिर है। पंचवटी की भूमि भी वैसी ही शान्त है। वन-उपवन के पंछी अभी विराम ले रहे हैं। सूरज का हलका उजाला अभी आया नहीं।—तब लोक को महानिद्रा से जगाती हुई किसी भिक्षुणी का शब्द कान में पड़ा—'रे! भाग्यवन्त नरनारियो! मुझे एक मुट्ठी अनाज दे दो—एक चीथड़ा देह ढँकने के लिए फेंक दो!'

नरनारी के वृन्द घर घर से इस विचित्र-सी आवाज को सुनकर निकल आये।

कोई कुछ देने के लिए दौड़ता है—कोई कुछ पास रखता है—कोई राजमाता को देखकर रोता रोता उसके चरणों में अनाज वस्त्र रखना शुरू ही कर देता है।

पर यह विचित्र भिक्षुणी तो घर घर एक मुट्ठी अनाज की भिक्षा लेने के लिए अपनी झोली घुमा रही है—'रे भाग्यवन्त नरनारियो! मेरी झोली में मुट्ठी-भर अनाज डाल दो!'

—और इस शोकार्त हृदय में भी एक गहरा-गहरा आश्वासन बैठा है।

भिक्षुणी घर घर घूमकर अनाज माँगती जाती है और उसके हृदय में एक मूक विचार जन्मता जाता है।

'मेरी यह सारी यातना नारायणराव के बाल-पुत्र के कल्याण के लिए हो!—हे अशरण-शरण! हे रघुवीर समर्थ! मुझे इसमें से लेशभर भी फल न मिले—लेशभर भी पुण्य न मिले!'

कविता का जन्म

री देवी कविता ! तेरा जन्म ऐसा विरोधाभासी क्यों है ?—या तो तू माता के हृदय में से प्रवाहित होती है अथवा निर्भय पुरुष के हृदय में से जन्म लेती है ; या तो प्रेम-वात्सल्य में से प्रकट होती है अथवा खाँडे की धार जैसे वज्र हृदय में से उत्पन्न होती है :—माता सरस्वती के कण्ठाभरण में ऐसा विरोधाभास शोभा देता है क्या ?

उस दिन दुरसा आढ़ा चारण के हृदय में तू इस प्रकार चमक उठी, जैसे मेघ में बिजली चमकती है। उस बुलन्द आवाज़ की प्रतिध्वनि—उसे तो दिल्ली के कोट-कंगूरे अभी तक याद करते होंगे।

वह निर्भयता तो वीर प्रताप के सिवाय और किसी को उस ज़माने में भी न मिलती !

शाहंशाह अकबर का दरबार लगा हुआ था। बड़े-बड़े सरदार उपस्थित थे, महापण्डित विद्यमान थे, उस ज़माने के महापुरुष हाज़िर थे।

एक संदेश—अचानक—आया : 'राणा प्रताप की मृत्यु होगई।'

सारी सभा स्तब्ध होगई। बहुतों को ऐसा प्रतीत हुआ कि अजेय माना जाने वाला शत्रु समाप्त होगया। आनन्द का प्रसंग समझकर किसी-किसी के चेहरे पर मुस्कराहट भी फड़क उठी। कोई-कोई सरदार खिन्न भी हुए।

पर यह क्या ?—शाहंशाह अकबर अपने आप भी इस समाचार को सुनकर उदास बन गए हैं।

क्या उनके हृदय में राणा प्रताप के साथ मिलने के अवसर के खो जाने का अफ़सोस है ?

या उसको, वे प्राप्त नहीं कर सके और निष्फल होगये—इसकी खिन्नता है ?

बादशाह की मुद्रा का अभ्यास करने वाले सब जब इस खिन्नता का अर्थ ढूंढ निकालने और उसके अनुसार आचरण करने की चिन्ता में पड़े हैं, तब मेघमाला में से जैसे गर्जना होती है, ऐसे ही चारण दुरसा आठा की बुलन्द आवाज़ आई :

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गौ आडा गवडाय, जाको बहतो धुरवामी॥

'जीत गया, स्वामी, राणा जंग जीत गया—अजेय रहकर ही मरा। निष्कलंक घुड़सवारी कर गया—अपनी बेदाग पगड़ी ले गया।

'खम्मा पृथ्वीनाथ! आपने बहुतों को जीता, पर वह आपको जीत गया।'

यह चारण बादशाही कोप का शिकार बनेगा, यह सोचकर सब काँप रहे थे, कि इतने में पीछे से वही निडर आवाज़ फिर सुनाई दी :

नयरोजे नह गयो, न गो आतसां नयल्ली।
न गो झरोखा हेट, जेट दुनियाण दहल्ली॥

'दर्शन करने के लिए झरोखे के नीचे, पृथ्वीनाथ! एक राणा प्रताप ही न आया, वह ही नहीं आया, न झुका।

'गहतोल राणा जीति गयो, दसण मूंदि रसणा उसी।'

इसलिए पृथ्वीनाथ!

'नीसास मूक भरिया नयण, तो मृतशाह प्रताप-सी।'

दुरसा आढ़ा चारण की निडरता जगविख्यात थी। किन्तु ठीक ऐसे समय, जबकि बहादुर से बहादुर पुरुष भी बादशाही मनोवृत्ति का विचार करने के लिए ठहर जाता—उस समय वीर प्रताप की मृत्यु, यदि दोहा-सोरठा के बिना निकल गई, तो सारा राजस्थान लज्जित होगा—अकबर का दरबार हो तो भी क्या है, राणा प्रताप को अंजलि देने का कवि-धर्म कहीं चूक न जाए—यह सोचकर निडर चारण ने बुलन्द वाणी में प्रताप की वीरता और अकबर की अनीहा

दोनों का वर्णन किया :

'गहतोल राणा जीति गयो, दसण मूंद दसण डसी ।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृतशाह प्रताप-सी ॥*

सुनकर सब स्तब्ध रह गये, और बादशाही कोप के परिणाम की कल्पना करके किंचित खिन्न भी हुए।

'खम्मा ! पृथ्वीनाथ ! राणा अमर होगया—जंग जीत गया—इस विचार से उदास हुए हो। पर हे शाह ! प्रताप तो प्रताप ही था।

'ऐसे लोग अजेय रहने के लिए ही पैदा होते हैं।'

अकबरशाह ने शान्त रीति से जवाब दिया : 'खूब कहा, कविराज ! जो मेरे मन में था, वही तूने कहा—राणा अजीत रह गया।'

और उसके बाद—जब कविवाणी ने स्वतन्त्रता दिखाई, उसके बाद—सारी सभा में राणा प्रताप की वीर-चर्चा शुरू हुई।

री कविता देवी ! तू जो ऐसी निर्भयता का वरण करती है, इसकी अपेक्षा, यदि तुझे ही देश-निकाला दे दिया जाए तो ?

श्रेष्ठ भिक्षान्न

'भगवान तथागत के नाम पर, नगर के ओ नर-नारियो ! भगवान् तथागत के नाम पर, भिक्षा दोगे क्या ?'

गली-गली में, शान्तेन्द्रिय महाकात्यायन की, राग-विराग से

---

*आछा ...यण ! आतसां—बादशाही तम्बू। दसण मूँद दसण डसी०—दाँतों के बीच में जीभ को दबाकर निःश्वास भरा, हे प्रताप ! तेरी मृत्यु के समय बादशाह के आंसू निकल पड़े—कारण कि—'तुं अस लेगो अणदाग,—पाघ लेगो अणनामी' इत्यादि।

शून्य सरोवर की जल-तरंग जैसी मधुर वाणी सुनाई दे रही है : 'नगर के ओ नर-नारियो ! महाभिक्षु के नाम पर भिक्षा दोगे क्या ?'

आश्चर्य ! महाआश्चर्य !!—उज्जयिनी के राजा चण्ड-प्रद्योत के पुरोहित के नाम पर धन-धान्य के ढेर नर-नारियों ने चरणों में रखे होते ! पर आज वही पुरोहित भगवान तथागत के नाम पर एक छोटे-से नगर में गली-गली भिक्षा मांग रहा है, किन्तु सुनसान गलियों के किसी बन्द द्वार में से कोई नन्हा शिशु भी बाहर नहीं फटकता।

उजाड़ रास्ते पर भिक्षु की कुण्ठित आवाज़ सोई हुई गलियों को जगाने के लिए—और सोए हुए हृदयों को झकझोरने के लिए—फिर-फिर के आ रही है : 'नगर के·····ओ नर-नारियो !····· भिक्षा दोगे क्या ?'

जिसको कुछ भी प्रिय नहीं, जिसको कुछ भी अप्रिय नहीं, वह परम-त्यागी महाकात्यायन, भिक्षुओं के साथ शहर से बाहर जाने को प्रस्तुत हुए। नागरिकों की भिक्षान्न प्रदान करने की इच्छा नहीं थी ; और भगवान तथागत के शिष्यों को, लेने की। गली-गली को जगाते हुए भिक्षुओं के स्वर की शान्त प्रतिध्वनि आकाश में फैल जाने लगी।

किन्तु यह कौन आवाज़ देकर बुला रहा है ? कौन कह रहा है : 'मेरे देव ! मेरे प्रभु ! मुझ दीन की, मुझ हीन की,—रङ्क भेंट स्वीकार करने के लिए पधारोगे ?'—कौन ऐसी प्रार्थना कर रहा है ?

वह तो इस धनवान शहर की एक रङ्क कन्या है। अनाथ है, उसके मां-बाप नहीं हैं। भिक्षुओं से वह प्रार्थना कर रही है : 'प्रभु मुझ रंक की—अकिंचित् भेंट स्वीकार करोगे ?'

और जिनको मान नहीं चाहिए, जिन पर अपमान असर नहीं करता, महाकात्यायन के ऐसे सात भिक्षुओं का संघ शान्त और प्रसन्न मुद्रा से, रङ्क से रङ्क सुकेशा के द्वार पर आकर खड़ा होगया।

आमन्त्रित भिक्षुओं को आसन के ऊपर बैठाकर सुकेशा घर में गई। आमन्त्रित भिक्षुओं को भिक्षान्न देने के लिए उसके दरिद्र घर में कौनसी समृद्धि थी? 'भगवान् तथागत के नाम पर'—इस मधुर स्वर ने उसे जाग्रत किया था और इसी स्वर ने उसे उत्साह दिया था। उसके केश इतने सुन्दर नहीं थे क्या, जो राजकन्या के मन में भी ईर्ष्या उत्पन्न कर दें? भगवान् बुद्ध का हृदय में ध्यान धर, केवल अपने सुन्दर केशों के ही ऊपर अवलम्ब रखकर, उसने अपने नगर को अपयश से बचाने के लिए, भिक्षुओं को आमन्त्रित किया था।

उसके बाद थोड़ी देर में, बिजली की-सी झड़प से एक हाथ से हृदय को थामती हुई और दूसरे हाथ से मणिमुक्ता देने पर भी न मिलने वाले रेशम के तन्तु जैसे सुकेशा के सुन्दर केश सँभालती हुई, एक धाय बाहर दौड़ गई।

अपने रिक्त पात्रों के सामने नजर रखे शान्त मुद्रा से भिक्षु बैठे हैं। महाकात्यायन के, तरंग-रहित सरोवर के निर्मल जल जैसे अन्तःकरण में भी स्वर झंकृत हुआ है: 'ओहो! इतने गरीब घर में भी ऐसा लक्ष्मी-सा हृदय रहता है। धन्य है इस गरीब को—इस गरीबी को—इस हृदय को।'

और नागेन्द्र जैसे सुन्दर लम्बे मनोहर केश-कलाप बेचने के लिए काट कर दे देने के बाद रङ्क सुकेशा घर के एक अंधेरे कोने में बोल रही है: 'हे प्रभो! मेरे केशों के सौ कार्षापण देकर क्रय करने की इच्छुक श्रेष्ठी-कन्या को मैंने उस दिन मना कर दिया था। आज उसके हृदय में इस बात का क्रोध न हो। मेरे नाथ! धाय से केश खरीद लेने की उसकी वृत्ति स्थिर रहे, जिससे कि मैं अकिंचन-दीन-हीन जीवन में कदाचित् ही मिलने वाले इस एक अनमोल पल को मणिमुक्ता की तरह अपने हृदय में सँभालकर रख सकूं, मेरे प्रभु।'

थोड़ी देर बाद धाय वापिस आई और आठ कार्षापण सुकेशा के

हाथ में दिए : 'श्रेष्ठी-कन्या अब सौ कार्षापण देने से इन्कार करती है। ये आठ कार्षापण दिए हैं।'

सुकेशा के नयनों में से आनन्द के आँसू बह निकले : 'मेरे देव ! तुमने मेरी लाज रख ली।'

एक-एक कार्षापण का एक-एक भिक्षान्न तय्यार करके परम प्रेम से—नतमस्तक होकर—भिक्षुओं को प्रदान करने के लिए बाहर आई।

महाकात्यायन ने शान्त स्वर में पूछा :

'बहिन ! स्वामि-कन्या क्या घर में नहीं है ?'

'हैं भगवन् !'

'यह भिक्षान्न भगवान् तथागत के नाम पर दिए गए प्रदानों में से श्रेष्ठ प्रदानों जैसा—तेरी स्वामि-कन्या के पवित्र हाथ से ही दिया जाता शोभित होता है।'

आनन्द के आँसुओं से ओतप्रोत, रङ्क के भी रङ्क वस्त्रों में ढंका हुआ, केश-कलाप से शून्य, दीन और शान्त, सुकेशा का शरीर बाहर आकर भिक्षुओं के चरणों के पास झुक पड़ा : 'मेरे प्रभु ! मुझ रंक की इतनी भिक्षा स्वीकारो।'

'जय हो ! भिक्षुओ ! इस महामूल्यवान श्रेष्ठ भिक्षान्न को तथागत के नाम पर देने वाली की।'

'जय हो राष्ट्रलक्ष्मी की !—श्रेष्ठ राष्ट्रान्न की !—सर्वोच्च भिक्षान्न की !'

कुन्ती : युधिष्ठिर

[महाभारत का युद्ध समाप्त होने के बाद गंगा किनारे उत्तर-क्रिया के लिए धृतराष्ट्र गया है—यह सुनकर पाण्डव भी वहां जाते हैं। मृतक स्वजनों को उदक-दान देने का प्रसंग है। तब कुन्ती अपने मुंह से पहली बार 'कर्ण मेरा पुत्र था और तुम्हारा बड़ा भाई था'—यह खुली बात युधिष्ठिर के सामने कहती है। यह प्रसंग इस सम्वाद को समझने में उपयोगी होगा।]

युधि०—[अपने शिविर के बाहर घूम रहे हैं और निरभ्र आकाश में रत्न-पुष्प-से तारे शोभित हो रहे हैं] कौन है ? यह कौन धीमी पड़ती हुई प्रतिच्छाया की भांति नीरव चला जा रहा है ?

कुन्ती : [किंचित-अस्वस्थता से] यह·····तो·····तो ·····मैं हूं। मैं कुन्ती।

युधि०—कौन मां तुम ? मां ! इस समय और फिर अकेली ?

कुन्ती—[किंचित् अधिक दृश्यमान अस्वथता से] मैं तुम्हारे पास ही आ रही थी। अँधेरी रात है। और ऐसी एकान्त अँधेरी रात में मेरे जीवन में हमेशा गुप्त एवं सुप्त-सा कुछ-न-कुछ जाग्रत हुआ करता है युधिष्ठर !

युधि०—आज मां ! तुम्हारी आवाज में इतनी अस्वस्थता क्यों दिखती है ?

कुन्ती—प्रसंग ही ऐसा है न ! स्वजन करारा घाव मारते हैं—जीवित होते हुए नहीं, मरने के बाद।

युधि०—तुमने तो मां ! तुम्हारी वीरत्वभरी वाणी ने ही तो हमको प्रोत्साहित किया, हमने रण में विजय प्राप्त की, राज्य पाया, शत्रु पराजित हुए—और अब तुम्हारे मुंह में यह विषाद शोभा देता है क्या ?

कुन्ती—मैंने तुम्हें जो प्रोत्साहन दिया था, वह तो इसलिए दिया था कि तुम निर्बलता को ही निर्मलता न समझ बैठो। महाराजाधिराज पाण्डु के पुत्र केवल युद्ध का उत्पात रोकने के लिए वैराग्य धारण कर लें—इसमें नहीं थी उनकी शोभा, या वैराग्य का प्रताप। पराजय या हार की कल्पना से धारण किया हुआ शान्तिमार्ग मनुष्य का अन्त में अशान्ति प्रदान करता है। बेटा! क्षत्राणियों ने—रण में काम आवेगा—यह सोचकर ही पुत्रों को जन्म दिया है।.....पर अब तू इस रण-कथा को रहने दे। आज मैं तेरे पास एक रहस्य-कथा कहने के लिए आई हूँ।

युधि०—क्या?

कुन्ती—सारे युद्ध के हिसाब से इस इतनी छोटी कथा में भरी हुई अग्नि मेरा अंग-अंग जला रही है।

युधि०—मां! बोलो मां! वह कौनसी कथा है, जो आज विजय के अन्त में भी तुम्हें तपा रही है? तुमने ही नहीं कहा मां! कि मृत्यु वैर-मात्र की शान्ति-ध्वजा है।

कुन्ती—मैं सहन कर सकी होती तो, तो तुमसे यह कथा न कहती। अपूर्ण रहने वाला वैर इतना वेदनामय नहीं होता, जितना अपूर्ण रहने वाला मातृत्व।

युधि०—जो तुम—माता धरित्री जैसी तुम्हारी सहन-शक्ति होने पर भी नहीं सह सकतीं—उस कथा सुन लेने का और सुनकर सहन करने का बल, तुमसे मांग लेता हूं। बोलो! मां बोलो—मुझे अन्धकारावृत रात्रि में उस रण-क्षेत्र के किनारे से जाने फिर अश्वत्थामा की आवाज सुनाई देती है।

कुन्ती—अन्धकारावृत रात्रि! हां! बेटा! ऐसी अनेक रात्रियों ने अनेक वर्षों तक मुझे युद्ध का घोष सुनाया है, और वर्षों तक युद्ध के घोष को अपने सिंहनाद से थर्रा देने वाला.....

युधि०—[घबराहट से] मां! तुम अर्जुन की बात करती हो?

कुन्ती—ना बेटा। अपने सिंहनाद से युद्धघोष के थर्रा देने वाले...

युधि०—[बीच में ही] पिता महं की—?

कुन्ती—ना बेटा! महारथी कर्ण की—

युधि०—कर्ण? मां! कर्ण की?

कुन्ती—"सूतो वा सूतपुत्रो वा" कहने वाले कर्ण की। वह वीर-मूर्ति मुझे अभी तक याद आती है। बेटा! कितनी बार, एक पल झांकी देकर, अन्धकार की चादर में अदृश्य हो जाने वाला कोई मनोहर स्वपन तूने देखा है?

युधि०—हां! मां! कर्ण में मुझे एक महान् स्वप्न की मूर्तिमन्त छाया हमेशा नजर आती थी—उसके चरण तुम्हारी याद दिलाते—उसका विषाद, तुम्हारी अन्तर-व्यथा!

कुन्ती—मुझे भी—जो अपने आपको राधेय मानता, किन्तु वास्तव में जो कौन्तेय था—वह तरुण कर्ण आज याद आता है। बेटा! कर्ण कौन्तेय था।

युधि०—[विस्मय से] मां! तुम कहती हो—कर्ण कौन्तेय था?

कुन्ती—जैसे तुम्हारी मां, वैसे ही उसकी मां। बेटा! सुनते हो?

युधि—मां!.....तुम.....

कुन्ती—हां बेटा! हां! मैंने ही उसे तज दिया था। ऐसी ही काजल-घिरी अँधेरी रात में उसको गंगाप्रवाह में बहता छोड़कर जब मैं वापिस लौट आई थी, वह दृश्य आज भी मेरी आँखों में घूम रहा है। जिस गंगा में उसे बहता छोड़ा था उसी गंगा के किनारे आज फिर उसे याद कर रही हूँ। तुम्हारे महाभारत के युद्ध की अपेक्षा अधिक बड़ा युद्ध स्त्री के हृदय में भरा हुआ है। रात्रि के अँधेरे में ढंकी हुई इस रण-भूमि को देखकर, मुझे तो बेटा! स्त्री का हृदय याद आ रहा है। जो वेदना, जो करुण कथा—स्त्री के हृदय में निवास कर रही है, उसकी तुलना में एकाध महाभारत कितना मृत्युमय और शान्त प्रतीत हो रहा है।

युधि०—किन्तु मां ! स्त्री का हृदय ही महाभारत को सम्भव बनाता है। तुमने पहले ही यदि इतना कहा होता कि कर्ण हमारा बड़ा भाई है, तो यह विनाश रुक जाता। कर्ण बिना कौरव थे ही कहां ! कर्ण और अर्जुन—जगत् में अद्वितीय में तुम्हारे दोनों पुत्र—यदि मिल जाएं तो फिर दुनियां में अजेय क्या रहता ? मां ! तुम्हारे हृदय में जो यह संहार का बीज आज के दिन तक गुप्त रहा है, वही तुमको अब पश्चाताप की अग्नि से भर दे रहा है न ? पर.....तुमने जरा-सा पहले कहा होता।

कुन्ती—बेटा ! तू मेरा पुत्र है, पर पुरुष है। स्त्री के हृदय को तू नहीं समझ सकता। अपना मातृ-हृदय तो मैं स्वयं भी अन्त तक ठीक ठीक नहीं समझ सकी। पूरा पूरा माता का हृदय समझने के लिए, मुझ स्त्री को भी स्त्री को मिटाने की और माता बनने की शिक्षा लेनी पड़ी है। जब मैंने कर्ण को तजा, तब स्त्री थी। मेरे मन में वेदना नहीं थी—लज्जा से छुटकारा पाने का आनन्द था। पर बेटा ! मुझे क्या पता था कि धुँधले दीपक के प्रकाश में—जरा देखा, जरा न-देखा, अर्ध स्फुटित बेले के फूल जैसे, उस कि नन्हे बालक का निर्दोष मुँह, मेरे रोम रोम में सुप्त मातृत्व को जगाकर, मुझे हर घड़ी और हर क्षण मानों मौन-वाणी से बुलावेगा कि—'ओ मां !' मैंने, बरसों गुजर गए, अन्धकार-घिरी रात में, जंगल में और शहर में, महल में और झोपड़ी में, जगते हुए और स्वप्न में, जाने कर्ण की यह मौन वाणी सुनी है कि—'ओ मां ! मुझे छोड़ दिया ? मुझ बेजबान को, निर्दोष को, त्यागते समय भी तुमको मीठे स्नेह से देखने वाले—और केवल विश्वास के ऊपर जीने वाले—नन्हे बालक को !' युधिष्ठिर ! बेटा ! बच्चे ! स्त्री मातृत्व को छोड़ ही नहीं सकती, देह को बिना छोड़े। यह मुझे अब पता लगा।

युधि०—तब तो मां ! मैंने जो सुना है, सो सच लगता है कि तुम लड़ाई से पहले कर्ण से मिलने गई थीं।

कुन्ती—युद्ध से पहले तो मैं उसे देखने गई थी, मिलती तो हमेशा ही हूँ।

युधि०—कहां ?

कुन्ती—अपने मन में। युद्ध से पहले मैंने कर्ण को देखा, किन्तु मेरे हृदय में तो, एक नन्हा सुन्दर बालक—नीलाकाश के अन्तर में सुप्त सत्यमय सौन्दर्य जैसा—प्रत्येक क्षण उपस्थित था।

युधि०—इतना अधिक काल्पनिक विषाद तुम्हारे हृदय में प्रकटित देखकर, मेरा संसार-विषयक राग शान्त हो रहा है और बनवास की आकांक्षा जाग रही है, मां !

कुन्ती—कर्ण की मृत्यु का मुझे उतना शोक नहीं है, जितना गाढ़ निद्रा में मग्न उस बालक को ठगने का शोक है। बेटा ! युधिष्टर ! समग्र साम्राज्य की समृद्धि के नीचे सोता हुआ वह एक नन्हा बालक मुझे जो वेदना दे रहा है, उसके मुकाबले में संख्याबन्ध वीरों की मृत्यु किसी भी तुलना में नहीं। तुझे यह कहने आई थी कि कर्ण तेरा भाई था—उसकी उत्तर क्रिया अब तू ही करना, उसको आश्वासन देने के लिए किया हुआ यह छोटा-सा काम भी मुझे कुछ तो शान्ति देगा।

युधि०—अरे ! मां ! मैंने कर्ण को अपना भाई जाना होता !

कुन्ती—पीछे तो उसको न जानने में ही सबका श्रेय था। मैंने उसको समझाकर देखा था।

युधि०—और उसने क्या कहा था ?

कुन्ती—उसने जो कहा था, उसे सुनकर—और तो क्या बेटा ! पर किसी मन्त्र-शक्ति से मैं यदि उसको गोदी में लिटाने लायक दुधमुँहा नन्हा बालक बना सकी होती—तो मैंने उसको अपने चुम्बनों से भर दिया होता। अरे ! उसे वीर-पुत्र की पांच-छह वर्ष की आयु का मीठा तूफान मुझे देखना मिला होता !

युधि०—उसने क्या कहा था मां ?

कुन्ती—वह तो उसके जैसी ही अमर वाणी थी—'मां ! कौन जानता है कि किस प्रकार नित्य-नित्य जीवन-व्यथा भोगकर तुम मेरे हृदय में शक्ति देती हो ! चाहे जो कुछ हो, भले ही दैव विरुद्ध होवे, पराजय स्पष्ट दीखती है, पुरुषार्थ का केवल-मात्र उपहास ही होना हो, और अन्य भी अनेक अदृश्य आपत्तियों के आने का निश्चय हो, फिर भी मैं भीरु नहीं बनूँगा नहीं ही बनूँगा। तुमने ही, मां ! ऐसा लगता है, जैसे अपने जीवन में से ही दिया हो. कि भीरुता की अपेक्षा अधिक नीचता और कुछ है ही नहीं। तुम्हारे पक्ष की स्पष्ट जय मैं देख सकता हूँ, पर अब तो जय-पराजय से परे अपने पुत्र को मां, रण में लड़ने और मुकाबले पर डटने की स्वीकृति दो मां !' बेटा ! जाने, मेरे जीवन की वर्षों की व्यथा ने उसके हृदय में नित्य का स्थान पा लिया हो !

युधि०—मां ! कर्ण वीर था। उसने वीर-मृत्यु पाई है। उसका शोक छोड़कर अब तो तुम्हें हमको रास्ता बताना है।

कुन्ती—तुमने जो कुछ किया, वह आवश्यक धर्म के रूप में था। मुझे अब इस वैभव का मोह नहीं, इच्छा भी नहीं। एकताप्लावित राजलक्ष्मी भोगने के लिए मैंने तुमको प्रेरणा दी ही नहीं थी। भीरुता और रुधिराप्लुत युद्ध में—तुम रुधिर-पूर्ण युद्ध को स्वीकार करो, यही मेरा संदेश था। मुझे अब किसी प्रकार के भोग की इच्छा नहीं।

युधि०—राजलक्ष्मी प्राप्त करने के बाद फिर त्याग की बात ?

कुन्ती—युधिष्ठिर ! यह तो जीवन-चक्र है। इसीलिए मेरे हृदय में एक दूसरी बात आज ही उदित हुई है। और वह भी जीवन-चक्र के क्रम में अनिवार्य लगती है।

युधि०—क्या ?

कुन्ती—[गम्भीरता से] अपने पाप के सम्पूर्ण प्रायश्चित्त के रूप में सम्भवतः मुझे अग्नि में से निकला पड़ेगा, अग्नि-स्नान करना पड़ेगा।

युधि०—मां ! तुम्हारा हृदय इतना व्यथित है.....

कुन्ती—[मानों आकाश की ओर देख रही हो] व्यथा से मैं बोल

नहीं पाती। मुझे लगता है, बेटा ! जाने गंगा के किनारे पर ही मैं अग्नि स्नान करूँगी, जहां मैंने सत्य छोड़ा था, सौन्दर्य छोड़ा था; भीरुता स्वीकार थी।

युधि०—मां !

कुन्ती—[उसी स्थिति में] तुझे—भीम को—अर्जुन को—नकुल को और पहले सहदेव को— पुचकारती हुई और.....

युधि०—मां ! बस करो, बस करो, तुमने दुःख से बुद्धि गवां दी है।

कुन्ती—[किंचित्-करुणा हास्य से].....और अपने सबसे प्रिय पुत्र कर्ण को बुलाती हुई—अग्नि-स्नान करूँगी। तभी मेरा हृदय बाल कर्ण के स्मित से लबालब भरेगा; तभी उसका मातृत्व मुझे फिर मिलेगा.....

मैं—मैंने पुनः कब तुमसे कहा था कि मैं कवि हूँ ?

मैं तो कवि भी नहीं। अकवि भी नहीं। मैं स्वयं हूँ या नहीं—जब इसका ही मुझे ज्ञान नहीं है, तब भला मेरी बिसात क्या कि तुम्हारे पास आकर कहूँ कि मैं कवि हूँ !

हाँ, इतना सत्य है कि उस दिन वह नन्हा झरना, उगता हुआ सूर्य, झिलमिलाता हुआ पानी, नन्हे पौधे, और वहाँ झोंपड़ी के पास बैठे हुए वृद्ध-मां और बालक—इन सबमें एक प्रकार का सप्रमाण सौन्दर्य बसता है, यह मैंने कहा था।

वह झोंपड़ी और झरना एक दूसरे के अत्यन्त योग्य रीत्या अनुरूप थे।

उस झोंपड़ी के पास बैठी हुई वह माता—और बालक—दोनों मानों एक ही सृष्टि के हों, इस प्रकार एकरूप हो गये थे।

पीछे बहुत दिन बह गये।

एक दिन घूमकर लौटते हुए वहाँ गया। तब वहाँ झोंपड़ी न थी, माता या बालक दोनों में से कोई भी नहीं था। सब शून्य और नीरव था।

सृष्टि तो वैसी ही शोभित हो रही थी—पर वह झोंपड़ी छिन्न-भिन्न हो गई थी। उसके अदृश्य हो जाने से कुछ खाली खाली लगता था। भरे भरे सौन्दर्य में कुछ न्यूनता प्रतीत होती थी।

मैंने तो केवल इतना कहा कि मानवता के कारण प्रकृति अधिक सुन्दर लगती है, मानव-विहीन प्रकृति भी अपूर्ण है—और तुम सब

बोल उठे कि 'तू कवि है—तू कवि है।'

मैं तो कवि भी नहीं। अकवि भी नहीं। मैंने तो केवल इतना कहा था कि यह प्रकृति तो एवमेव सर्वत्र विलसित हो रही है; उस मानव का क्या हुआ केवल यही हमें पता नहीं है—इसी में जीवन की भयंकर करुणता निवास करती है; और तुम सब बोल उठे कि 'तू कवि है—तू कवि है।'

रे भाइयो! मैंने भला कब प्रकृति का दर्शन किया है कि तुम मुझे कवि कहते हो?

मैंने भला कब प्रकृति गान किया है कि तुम मुझे कवि कहते हो?

मैं तो कवि भी नहीं। अकवि भी नहीं। मैं कुछ भी नहीं।

मानव को देखकर रचना करने वाला मानव-मात्र हूँ!

तुम—तुम भी विचित्र मानव हो!

मुझ मानव को कवि कहते हो—जिसने प्रकृति का गान नहीं किया, जिसने प्रकृति का दर्शन नहीं किया—उसे?

(२)

मुझे तो बहुत बार—बहुत बार—शांत, धीमी, ठण्डी, मधुर रात्रि में, जब बेला और गुलाब का परिमल महंक रहा होता है तब, विचार आता है कि मैं भी इस परिमल में एक अणु-परमाणु-रूप बुना गया होता!

जब स्वच्छ आकाश में रात में तारे, नैनी सरोवर में उगते फूल की तरह, शोभित हो उठते हैं,—एकाध हलकी-फुलकी बदली चाँदनी में भटक रही होती है, तब अन्तःकरण में तीव्र संवेदन होता है कि अरे! इस भटकती हुई बदली का आवारागर्द साथी बनना मेरे भाग्य में भी होता।

अथवा जब श्रावण की अन्धकारावृत रात्रि में धीमी-झीनी बूँदों की बारिश शुरू हो जाती है तब, जिस प्रकार राजद्वारी पुरुष

के अन्तःकरण में सुप्त महत्वाकांक्षा जागती है उसी प्रकार, एक मनोभाव जाग्रत होता है, कि इन अनेक जलबिन्दुओं के साथ एक जलबिन्दु बनाने का स्वप्न मुझे भी फलित होता !

किन्तु उस मनोभाव के अन्त में पता लगता है कि जिस प्रकार इस जीवन को, उसी प्रकार विश्व-क्रम के अणु-अणु को, अपना धार्मिक जीवन जीना होता है। प्रत्येक का व्यक्तित्व है, प्रत्येक को स्वतन्त्रता है, पर स्वच्छन्दता किसी के लिए भी नहीं है।

जलबिन्दु के रूप में रहे या मानव-देह के रूप में रहे—विश्व-क्रम में अपने स्थान-धर्म से पृथक् एकाकी भटकता हुआ, बिना किसी हेतु का एक भी अणु नहीं।

(२)

एक बार तो यह सम्भव हो !

किसी धन्य विरल पल में अलकानगरी की एकाध लावण्य-मूर्ति देखने को मिले !

और ऐसे ही किसी अन्य-धन्य पल में संगमरमर में उसकी मूर्ति स-जीवन बने !

और उसके बाद इस पृथ्वी पर की हजारों लावण्य मूर्तियों में वह लावण्य-मूर्ति मिल जावे।

और उसका सिरजनहार, नाम-शून्य, कीर्ति-शून्य, आदर-शून्य, घूमता-भटकता कुढता-पिटता फिसरता-पिछड़ता, पराजय पाता हुआ, पृथ्वी पर के रजकण में रजकण-सा बनकर घुलमिल जावे, उसे कोई न पहचाने—कोई न याद करे—कोई न जाने—कोई न ढूँढे।

अरे ! जीवन की गाथा में केवलमात्र यह एक ही पृष्ठ सम्भव बने।

यह एक ही पृष्ठ—अपने को मिली हुई शक्ति के अनुसार उत्तम रीति से जीने का और फिर बाद में लेशभर भी दंश के बिना भूल जाने का—सम्भव बने !

(४)

इस लड़ाई में मुझे पराजय मिली—यही तुम कहते हो न ?

कारण यह है कि जय-पराजय की स्पष्ट रेखा तुम्हारी समझ में नहीं आती।

मेरे हाथ में रहने वाली गर्व की भस्म—जीवन में यह कौनसी रसायन है, यह तुम्हें क्या मालूम ?

इसलिए तुम हारी हुई लड़ाई को हार समझते हो, मैं इस हार को जीत का प्रथम सोपान समझता हूँ।

(५)

'भाई ! यह तू क्या करता है ? देवी की उपासना ?'

'जो कल्याण-मूर्ति है—जो विश्वमाता है—उसके हाथ में, और फिर तलवार हो ?'

'तलवार दुनिया की निर्बलता की निशानी नहीं है क्या ?'

'तलवार जगद्बन्ध कल्याण-रूप शक्ति के हाथ में शोभा देती है क्या ?'

युवक को लज्जित कर देने वाले युक्त-हास्य से उसने दिशाओं को भर दिया, धीमे रहकर उस वृद्ध पुरुष ने जवाब दिया—'तुम्हारी भूल है, दोस्त ! एक जबर्दस्त भूल है !'

'तलवार निर्बलता की निशानी नहीं। तलवार सबलता की भी निशानी नहीं। कल्याण-स्वरूप शक्ति के हाथ में तलवार शोभा देती है, इसका अर्थ ही यह है कि तलवार का प्रयोग करने में जो संयम चाहिए, वह संयम ही उसे सबल या निर्बल बनाता है। बिना संयम की तलवार राक्षसों को शोभा देती है और बिना तलवार का संयम साधुओं को शोभा देता है।'

जगत् में अनेक प्रकार के रहस्य निवास कर रहे हैं—उनमें से एक यह रहस्य भी नोट कर लो। दुर्गा और भवानी, एक ही शक्ति-स्वरूप में दो रूप यह बताते हैं कि दुनिया में जो स्थान भव्य को है

वही स्थान भयंकर को भी है।

दुनियां को सादा और सुन्दर बनाने के लिये सदा-सर्वदा भव्यता भयंकरता का हनन कर रही है।

(६)

'अपने मन में पड़े हुए विकार को व्यर्थ छन्द में क्यों सजाते हो ?

अथवा अपने अन्तरंग के एक-दो निर्बन्ध पलों को क्यों संगीतमय बनाते हो ?

अपने व्यक्तिगत दुःखों के रुदन में से साहित्य-कृतियां क्यों रचते हो ?

अपने जीवन में आए हुए दुःख और विषाद, ग्लानि और आशा, उत्साह और प्रेम, उल्लास और संयम—ये सब जीवन-स्वर जिस चैतन्यधारा के द्वारा संगीतमय बनकर जीवन में बज उठते हैं, उस चैतन्यधारा की ही प्रशस्ति रचो न !

इस प्रकार की अग्निमय आपवीती को संयम के संसर्ग से तेजस्वरूप बनाओ न !

ऐसी महातेज की मौनवाणी को ही शब्द का शरीर दो न !

रे कवियो ! इस प्रकार के किसी महाछन्द में महावार्ता रचो न—जो मानव में से मानवेन्द्र बनावे—जो पामर में से पुरुषोत्तम निर्माण करे।'

(७)

रे भिक्षु ! तेरे जैसा पामर और दीन—तेरे जैसा बलवान और तेजस्वी—और कौन हो सकता है ?

तुझमें इन परस्पर-विरोधी भावों का ग्रन्थन सम्भव हुआ है, इसलिए कभी तू पामर और दीन होता है, कभी शक्तिशाली और तेजस्वी होता है।

देखो भाई ! वह भिखारी कितना कँगाल लगता है, दीन से भी दीन मनुष्य की अपेक्षा भी कितना अधिक दीन है। इसे पता भी नहीं

कि यह दीन है।

यह अलख जगा रहा है—स्वयं अपने बच्चों को पालने की अशक्ति का करुण रुदन कर रहा है।

और इस ओर यह महा-तेजस्वी भिक्षु—जिससे कुछ स्वीकार करने की प्रार्थनाएं हो रही हैं।

रे भिक्षु! तेरे जैसा पामर और दीन, तेरे जैसा बलवान् और तेजस्वी और कौन हो सकता है?

(८)

मानव को महत्ता देने के लिये यह प्रयत्न है न? मनुष्य को महान् बनाने का यह प्रयास है न? तब मानवता में घुल मिल जाओ, मानवता को देखो।

मानवता को खोजो। जनता में प्रसृत सामान्य मानवता ढूंढो।

इसके बिना केवल महत्ता की प्रशंसा गाने से मानवता का उद्धार नहीं हो सकता।

भगवान् तथागत, महावीर, शंकर, क्राइस्ट—ये सब अकस्मात् हैं।

ये सच्चे सामान्य मनुष्य नहीं हैं, मानवेन्द्र हैं।

इनकी जीवन-चर्चा हमें महान् बनाती है, किन्तु मानव-दोष की चाबी नहीं देती।

मानव-दोष जिस व्यवस्था में से जन्म लेता है—जिस राग-द्वेष से पुष्ट होता है—उसे खोजो।

जिस कारण से सड़की बाफरण का नत्थू सिपाही खून करता है—जिस कारण से भगुभाई काठी लाठी मारता है—उस कारण में विद्यमान मानव-दोष का अवलोकन करो।

सारी अव्यवस्था उस कारण से उत्पन्न होती है।

यह कारण सामान्य मनुष्य के मन में रहने वाला एक ही गर्व है: 'शासितकरने का भान (त्व-स्वामित्व-भाव)।'

सामान्य मनुष्य और सम्राट्—ये एक ही विचार से दुनिया को आस्ति-नास्ति करने का प्रयत्न करते हैं।

इस कारण का उपाय खोजो।

उस उपाय के सुझाव में ही, मनुष्य को महान् बनाने का सफल प्रयोग विद्यमान है।

(९)

जीर्ण और पुराने किले की वज्र जैसी ईंटों में से, किंचित्-किंचित् दृश्यमान मार्ग में से भी, उस बड़ का बीज अपना मार्ग निकालने का प्रयत्न कर रहा था।

उस रात, सम्पूर्ण दिवस में आई हुई आफतों में से एक के भी ऊपर विचार करने की इच्छा ही नहीं हुई।

जब प्रयत्न ही धर्म है—तब चिन्तन के लिये एक पल भी किस लिए बचाना?

सम्पूर्ण दिन के अन्यायों को—जिस प्रकार दिन अँधेरे में फेंक दिया गया ठीक वैसे ही—मैंने भी अन्धकार में फेंक दिया, जिससे कि वे हमेशा के लिए भूल जावें और एक के बाद एक स्वयं नष्ट हो जावें।

तभी मुझे पता लगा कि अन्यायों का प्रतिपक्षी बल, अन्यायों को फेंक देने में—और अपने मार्ग पर आगे बढ़ने में है।

तभी मुझे पता लगा कि जो दुःख न दे सके, वह अन्याय स्वयमेव विनष्ट हो जाता है।

(१०)

रे! तुम दोनों—जो पुनर्जन्म को नहीं मानता, उसका भी पुनर्जन्म को मानने को मन हो जावे—इतनी अधिक रसिकता प्रतिक्षण जीवन में प्रकट कर रहे हो।

पुनर्जन्म हो तो मेरी तो बहुत बार यह माँगने की इच्छा होती है कि किसी महारण्य में किसी विशाल वृक्ष की डाल पर जैसे

तुम जीते हो, वैसे ही जीना फिर मिले—जिसमें एक भी अरसिक पल न हो।

मैं तुमसे पूछता हूँ—तुम दोनों से—नन्हें शुक पक्षियों से—कि इतनी अक्षय रसिकता तुम्हारे जीवन में किस तरह आई—यह रहस्य तो बताओ।

या फिर प्रकृति ने जिसको बुद्धि दी—उसके लिए जीवन में रसिकता की खोज शेष रहने दी, और जिसको रसिकता दी, उसके लिए बुद्धि प्राप्त करनी शेष रहने दी।

सारे दिन में एक भी घड़ी ऐसी नहीं कि जिसमें तुम रसिकता से एक दूसरे को कुछ-न-कुछ न कहते हो—एक भी घड़ी ऐसी नहीं कि जिसमें तुम्हें अपना प्रेम व्यक्त करते हुए थकान आती हो—एक भी घड़ी ऐसी नहीं कि जिसमें तुम जीवन का आनन्द भूल सकते होवो!

यह होते हुए भी तुम्हारा सहचार नित्य का है! नित्य के सहचर ने हमारे समाज में तो प्रेम-पंछी को देश निकाला दिया हुआ है। हमारा प्रेम—'केवल शुद्ध प्रेम के लिए व्यवहार'—इसको तो इस बुद्धि का उपहास समझते हैं। हम नित्य साथ रहते हैं—न रहें तो आर्थिक कठिनता का मुकाबला करना पड़े इसलिये; न रहें तो दुनियाँ उपहास करे इसलिये; न रहें तो कहाँ रहें इसलिये।

रे सुकुमार पंछियो! तुम्हारी तरह पर्वत में और जंगल में। झरनों में और वृक्षों में, कोमल पत्तों में और ताजी घास में—फिरना हो, खेलना और आनन्द करना हो;—प्रकृति का इसमें कौनसा हेतु है कि यह अब हमारे लिए सम्भव नहीं है? या फिर अपने को श्रेष्ठ मानने वाली मानव-जाति, अपने ही हाथों इस अवस्था को असम्भव बना देती है?

निर्दोष आनन्द और प्रेम, सादा और कठिनाई-शून्य शान्त जीवन, एकरूप और अटपटा न लगने वाला व्यवहार—यह सब हमने अपने ही हाथों खोया है। इसमें हमारी पराजय है? या इसे

खोने के बाद और नई रचना में इसको बिल्कुल मिटा देने के बाद, हम फिर-फिर इसकी शोध करते हैं—इसमें हमारी विजय है ?

तुम तो प्यारो ! बस सारे दिन कोई न कोई रसभरी बात किया ही करते हो। किस छटा से चलते हो, किस आनन्द से डोलते हो, किस प्रेम से चंचु का चुम्बन करते हो, किस निजानन्द की मस्ती में आँखें सींचते हो ! अरे ! और तो क्या—तुम्हारे मौन में भी तुम्हारी प्रेम-भरी कविता तो बोलती रहती है। हम कवि लोग जिस प्रेम को उस पृथ्वी पर का नहीं, किन्तु सूर्यलोक का, कल्पना करते हैं, उसी प्रेम को तुम किस युग में से, किस प्रदेश में से, किस प्रकार ले आये ? किस रस-प्रदेश की यात्रा करके—पृथ्वी के किस अज्ञात प्रदेश से, अपने पंख में, अपनी आँख में और अपने अन्तर में इसे भर लाये ?

रे प्यारे ! रे पंछियो ! रे सुकुमार मित्रो ! हमें तुम्हारे पास से यह मिल सके—थोड़ी-सी यह सौन्दर्योपासना—थोड़ी-सी यह रस-समाधि—मिल सके !

मिल सके, अथवा कहो कि सीखी जा सके !

(११)

दोपहर को जब एकान्त होता है, और जब सब शांत-स्तब्ध वृक्षों की अकेली परछाया खड़ी रहती है, तब, बहुत बार—मुझे दरबार माधुभा की वाटिका याद आती है।

अकेला—निठल्ला—जब मैं दूर दूर खेतों में झड़बेरी के बेर लेने चला जाता और जब थकावट से, गर्मी से, और व्याकुलता से बचने के लिए किसी जगह की खोज में होता, तब उस सारी खेती में हरे भरे वृक्षों वाली वह माधुभा की वाटिका, विचित्र आकर्षण से —अरे ! कई बार तो इशारे से—मुझे बुला लेती।

जब जब मैं, शांत वृक्ष की मूक परछाया में अकेले खड़े हुए

दोपहर को देखता हूं, तब तब बचपन की वह वाटिका मुझे याद आती है।

उस वाटिका की रचना भी स्मरणीय थी। उसका कूआँ—चौड़े मुँह का, ऊपर तक छलाछल पानी से भरा हुआ, तैरने वाले अनेक स्थानों पर खड़े हो सकें, ऐसे अवकाश वाला, ऊपर से कूदने के लिए और डुबकी लगाकर (आँखमिचौनी) खेलने के लिए चारों ओर सुन्दर वृक्षों से समावृत, एवं अक्षय था। कुएँ के पास, जलाशय से थोड़ी दूर—आम, गुंदी, पीपल-अशोक, पल्लव, जामुन, आमलक और वट —कोई दस-एक पेड़ों के झुण्ड, एक दूसरे में मिलकर और एक दूसरे का आलिंगन करके खड़े हुए थे। इस झुण्ड के बीच में घनी छाया वाला चौक !—अथवा जाने दो—बड़े बड़े चँवर बँधे हुए बंगलों में ऐसी सुन्दर शान्ति नहीं देखी। वह चौक तो सचमुच किसी शाद्वल का अलग पड़ा हुआ रत्न खण्ड था। इस वृक्ष पर मधु मालती की बेल कहीं कहीं झांका करती।

और जब शिखर-दुपहरी में—जब वहाँ कोई भी न हो, ऐसे समय —वहाँ जाकर बैठता तो एक क्षण-भर तो ऐसा लगता कि धरती का यही अन्त होता। यहाँ से अब उठना भी न हो और कहीं जाना भी न हो।

उसके बाद तो मैंने ऐसे सुन्दर सुन्दर हरे-भरे भू-खण्ड देखे हैं कि उनके सामने माधुभा की वाटिका किसी बिसात में ही नहीं। मीलों तक वन-राजि से भरपूर मार्ग देखा है; पर्वत-टीले—हरे हरे खेत, छोटे बड़े वृक्षों के झुण्ड, सुन्दर प्रपात और अनुपम दृश्यावली देखी हैं;—पर यह सब होने पर भी, माधुभा की वाटिका—यदि किसी अन्य दृश्य के कारण नहीं, तो केवल उस मूक लक्ष्मी परछाया के कारण—मुझे आज भी आकर्षक लगती है?

कोई मधुर शीतल चाँदनी रात हो—और गिरनार के घांटपड जैसे गाँव के पास शिंगोडा नदी के किनारे पर बैठे हों—सामने किनारे

के वृक्ष·····चाँदनी में परछाया डाल रहे हों—और तुरन्त उस वाटिका की परछाया याद आ जाती है ?

चाँदनी रात में घूमने निकले हों—युक्तिपटस के उत्तुंग वृक्ष चाँदनी में चमकते हों—उन वृक्षों की रमणीय घटा देख रहे हों, तो तुरन्त वह परछाया यदि आ जाती है ?

माधुभा की वाटिका की वह परछाया नित्य के जीवन में घुल मिल गई है।

मेरे मन में, बहुत बार—बहुत बार, ऐसा आता है कि एक बार फिर कन्धे पर चादर डालकर, हाथ में झण्डा लेकर, भरी-दुपहरी में अपने ढोर हाँकता हुआ—एक बार माधुभा की वाटिका की परछाया को देखने के लिए जाऊँ ! यदि यह भाग्य किसी समय फले !

—पर अरे, अब कदाचित् यह फले—या मान लो कि मिले, तो जो आनन्द, जो मिठास, जो मजा उस समय आया था, क्या वह अब भी आवेगा ? सच ?—इसीलिए बारम्बार मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि आनन्द दर्शन में है या द्रष्टा में ?—द्रष्टा न हो तो—दर्शन फिर भले ही साक्षात् कैलाश का हो। यदि द्रष्टा न हो तो क्या वह मनोरम दर्शन भी सचमुच कोई आनन्द दे सकता है ?—और दर्शन का आनन्द यदि इस प्रकार द्रष्टा पर ही अवलम्बित हो, तो फिर एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तु का कौनसा स्वरूप सच्चा है ?

जो था वह, जो है वह, या जो नहीं है वह ?·····

(१२)

तुम्हारी इस सामान्य बुद्धि के विषय में तो मुझे कहना ही क्या है ?

देखो न, मैंने कुछ किया नहीं। जीवन की परछाया की तरह एक चित्र उपस्थित किया था—और तुमने मुझे जीवन-संगीत का जानने वाला नृत्यकार कहके बहुत मान दे दिया।

मैं तो एक आवारा गरीब मुसाफिर हूँ।

यात्रा लम्बी है। अन्त नजर नहीं आता। दिल बहलाने के लिए जहाँ जो कुछ मिलता है, देखता हूं। जहाँ सौन्दर्य लगता है, खोजता हूं। जहाँ प्रमाण हो, खड़ा हो जाता हूँ। जहाँ आँख टिक गई, टिक जाता हूँ।

देखो न, उस साँझ को वह ग्वालिन खेत से वापिस लौट रही थी?

सारे चरागाह हरे भरे थे। गोधूलि सोने के रंग से रंगी हुई थी। गायें आ रही थीं। दूर दूर के खेतों में से गीत सुनाई दे रहे थे—वह ग्वाला वहाँ बाँसुरी बजा रहा था।

ग्वालिन का कपड़ा—हीरों गुंथा, बादलों जड़ा, शरीर के मांसल अवयवों को ढंकने का व्यर्थ प्रयत्न करता—मुझे इतना सुन्दर और उस जीवन में उसका समस्त वेष इतना अनुरूप लगा—इतना नैसर्गिक—इतना सहज—मानों कि यह सृष्टि का अंश हो, ऐसा—कि मैंने अपने ग्वालिन के परिधान में उसको सांगोपांग उतार दिया।

और तुम जीवन की इस नकल के लिए मुग्ध विमोहित बनकर मुझे नृत्यकार कहते हो?

इससे भी अधिक यह खूबी तो देखो—

तुम भी कुछ विचित्र मनुष्य हो!

उस दिन हिमाद्रि की उस पगडण्डी के पास एक गृहस्थ खड़ा था।

कोट था—पतलून थी—नकटाई भी ठीक थी। हाथ में स्टिक थी।

हूबहू यूरोपियन की तरह खड़ा था। हिमाद्रि के सामने वह खड़ा था।

अथवा उसके सामने हिमाद्रि खड़ा था।

और तुम्हें उस नकल में नृत्य नहीं लगा! और मेरी नकल में नृत्य लगा!

वाह रे लोगो ! तुम्हारी सामान्य अक्ल ! तुम भी कुछ अजब आदमी हो !

(१३)

तुम आश्चर्य-मुग्ध बनकर मेरी तेज-रेखा देख रहे हो क्या ?

विश्व की अनेक तेजस्वी वस्तुओं की तुलना में मेरी प्रभा क्या तुमको अनोखी ही लगती है ? मैंने अनेक लावण्य-मूर्तियों को मुग्ध बनाया है, अनेक वीर पुरुषों के हृदय में अभिलाषा को जन्म दिया है, अनेक वैभवशालियों को न्यूनता का भान कराया है।

मेरी काया का तेज—इन्द्रधनुष, आकाश, पृथ्वी या जल कहीं से नहीं मिलता। मेरी तेज-रेखा मेरी ही है, और मेरी ही रहनी है।

मनुष्यों ने अनेक प्रयत्न किए हैं। अभी और करेंगे। मेरी अपेक्षा और अधिक तेजस्वी पदार्थ जन्म लेंगे, पर मेरे तेज की विचित्र शांत-मोहिनी कहीं मिलने की ही नहीं।

मैंने कायापलट किया है, और इस कायापलट में ही इस मोहिनी का रहस्य छिपा है।

वर्ष-वर्षों तक—और सदियों तक, पृथ्वी के पट के नीचे अपना नामोनिशान मिटाने के लिये मैंने भीषण तप किया है.....

मैं जात का कोयला—जात देखकर सब फेंक देंगे, मुँह देखकर मखौल उड़ायेंगे, रंग देखकर धिक्कारेंगे।

कायापलट करने के लिये युग-युग की तपश्चर्या की; किसी ने नहीं पहचाना, किसी ने नहीं जाना, किसी ने स्वीकार नहीं किया।

अधिकाधिक गहरे—पृथ्वी के अन्तर में,—अभी और गहरे—नाम-निशान मिट जाये तो चिन्ता नहीं, इस संकल्प के साथ, अन्धकारावृत कन्दरा में अपने को गाड़ दिया।

गाड़ ही दिया, इसलिए कि कोई न देखे, कोई न माने, कोई न पहचाने।

और फिर 'सूतो वा सूतपुत्रो वा' कहने वाले राजा कर्ण ने,

महाभारत के युद्ध में—नर-पुंगवों को अलंकृत करने वाली विचित्र रणभूमि में मुझे मुकुट में धारण किया। अन्य अनेकों ने भी मेरी खोज की; मेरा सत्कार किया; सन्मान किया। और मैं महामूल्यवान् बन गया।

उसके बाद तो वैभवशालियों को मेरे बिना न्यूनता का आभास होने लगा, अद्भुत लावण्यवतियों को भी मेरे तेज के बिना जीवन नीरस लगने लगा, वीर पुरुषों को मेरे बिना वेदना होने लगी।

पर मुझे नरपुंगवों के स्पर्श से जो आनन्द मिला, वह आनन्द और कहीं नहीं मिला।

एक प्रकार से वे हमारे समान-धर्मा हैं। उन्होंने रजकण से रत्न-रज का निर्माण किया है। उन्होंने कायापलट करने के लिये मेरी ही तरह जीवन को दफना दिया।

उनके स्पर्श से मुझे रोमांच हो आता है, और आनन्द आता है। उनकी वीर-कथा सुनकर और अधिक वीरत्व करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

और अब—आज मेरा दुर्भाग्य तो देखो।

वेश्याओं के कान में मेरा लटकाया जाना—नकटे-लम्पट पुरुषों के हाथ में खेलना—रे! 'प्रेमपंछी' को उड़ाने के लिए मेरा ही आना-जाना और तीन-तीन कौड़ी की स्त्रियां वैभवशाली दिखें, इसलिए मेरा उनके कण्ठ में झूलना—

और जिसने शंकर-पार्वती का स्नेह-रमण देखा है, ऐसे मेरा, हिमाद्रि की किसी कन्दरा में से निकल कर, बाजारू प्रेम को सन्तोष देने के लिये उस अंगूठी में जड़ा जाना।

अरे! फिर मुझे कोई मेरी अँधेरी गुफा में भेज दे। मेरा जीवन यों ही बह जाय, इसकी अपेक्षा तो अच्छा है कि किसी अज्ञात कन्दरा में मैं फिर गाड़ दिया जाऊँ।

मैं तो नर-पुंगवों को खोजता हूँ।

मुझे नर-पुंगव ही धारण करें—यह चाहता हूँ।

मैं बाजारू मनुष्यों में रहूँ इसकी अपेक्षा तो अच्छा है कि पृथ्वी के पेट में जाकर आस्ति-नास्ति बन जाऊं।

(१४)

रे प्यारे गुलाबी बालको ! तुम्हारे जीवन की कोमलता और सुगन्ध केवल कुछ वर्षों के बाद कहाँ होगी ? क्या वह तुम्हारी कोमलता और सुगन्ध वास्तव में थी ही नहीं और केवल दिखती-भर थी ! या फिर संसार की पवन से वह उड़ गई ? यदि संसार की पवन से ऐसी अमूल्य वस्तुएं उड़ जाती हों, तब तो तुम को संसार से अलिप्त रखने में ही सत्य समझना चाहिए। पर तुम्हें संसार से अलिप्त रखना सम्भव नहीं, और संसार में बहते देख तुम्हारी जीवन-सुगन्ध को उड़ने देना भी इष्ट नहीं।

या फिर इस पहेली में ही जीवन की रहस्य-रक्षा विद्यमान है ? जो सुन्दर जीवन गंवा दिया—उसी जीवन को प्रयत्न से पुनः प्राप्त कर लेने का ही नाम जीवन है। तुम्हारे सुगन्धित स्वभाव की आँख-मिचौनी में यह रहस्य छिपा हुआ है ? चाहे जो कुछ हो, परन्तु गुलाबी बालको ! तुम हमेशा ही इतने मधुर, ऐसे निर्दोष, ऐसे सुगन्ध से भरपूर रहो, और व्यतीत होते हुए वर्ष तुम्हें जीवन का अनुभव दें, पर स्वार्थ न दें...कटुता न दें।

जिस अनुभव से स्वार्थ का भाव जाग्रत न हो या कटुता का दंश न लगे—क्या उस अनुभव में ही जीवन की शुद्धि है ? और इस शुद्धि के द्वारा ही जीवन में कोमलता और सुगन्ध की पुनः-प्राप्ति ?

यह चक्रगति—क्या यही जीवन की रहस्य-कथा है ?

(१५)

और वह पूरा हो गया।

मनोरम कल्पना-सृष्टि के सदृश उसकी स्तम्भावलि शोभित हो रही थी।

उसमें एक स्तम्भ न था, दो चार स्तम्भ न थे, एक हज़ार स्तम्भ थे।

रति और कामदेव के अमर-युग्म-सी रसिकता कई स्तम्भों को शोभित कर रही थी। उनमें मद-मत्ता सुन्दरियाँ थीं। किसी दिन भी अपने रूप को देख कर न थकने वाली दर्पणकन्याएं खड़ी थीं।

अर्जुन और कृष्ण की, श्री और विजय जैसी कर्मण्यता, कई स्तम्भों को शोभित कर रही थी। उनमें एकाकी परशुराम था। महापुरुषों का अवज्ञान करता हुआ कर्ण था। लव और कुश थे। भीलकुमार एकलव्य खड़ा था। श्रद्धा की मूर्ति-सामर्थ्य के प्रतिबिम्ब-सा, पौरुष की प्रतिमा-सा।

और भक्त-हृदय की समर्पण-कथा-सी, किन्हीं मूर्तियों में 'केवल एक शरण' और 'त्वदीयचरणेषु' जैसी काव्यपङ्क्तियाँ खुदी हुई थीं।

और वह पूरा हो गया।

अन्तिम स्तम्भ के नीचे ज़रा-सी खुदाई बाक़ी थी।

एक छोटी-सी तख्ती में अपना नाम खोदने के लिए शिल्पी प्रयत्न कर रहा था।

एक क्षण-भर अपनी स्वप्न-सृष्टि पर नज़र फिराने के लिए वह रुका। क्षण-भर रुका।

जिधर दृष्टि घुमाओ उधर ही गढ़ जाये—इतनी सुन्दरता थी। स्थान-स्थान पर मूर्तियों में आलेखित काव्य थे। स्थल-स्थल पर रमणीय स्वप्नों जैसी मादक मोहिनी थी।

शिल्पी खड़ा रह गया।

वह खड़ा ही रहा।

'रे! विजय का एक अन्तिम पल यदि तू सुरक्षित नहीं रखेगा—तो क्या कहा जायेगा कि तूने सुरक्षित रखा है?'—इतना वह बोला या न बोला—अपने अन्दर ही अन्दर।

और उसने अपना औज़ार नीचे पटक दिया।

फिर नीचे झुक कर उसने धीरे-से अपनी खाली तख्ती में एक कमल का फूल खोद निकाला। काम पूरा हो गया। एक बार चारों तरफ भरी नजर से देख लिया—और वह अदृश्य हो गया।

हजारों यात्री पूछते हैं—यह शिल्पी कौन था?—कहाँ का था?—उसका नाम क्या था?

और मन्दिर के मूक गुम्बद से उत्तर मिलता है—'कोई नहीं—कोई नहीं—कहीं का नहीं—वह अज्ञात—वह बिना अनाम—!'

(१६)

तभी मैंने जान लिया था कि या तो यह पुरुषोत्तम बनेगा अथवा पागल बनेगा।

तभी मुझे पता लग गया था कि या तो यह नरोत्तम बनेगा, अथवा इसका नाम-निशान भी मिट जायगा।

तभी मैंने धारणा कर ली थी कि या तो यह एकाकी धक्के खायेगा, अथवा अकेला हजारों—लाखों का उद्धार करेगा।

निर्बलता में झूठा आधार रखती हुई, सच्ची तेजस्विता को निर्बल करती हुई परीक्षाएं समाप्त हो गईं। मैंने पूछा—"क्यों, अब तुम्हारा विज्ञान पूरा हो गया?"

"अब?—कहीं ढूंढ निकाली है?"

वह जरा हँसा : "कौन? नौकरी या प्रियतमा?"

"नौकरी ही तो! प्रियतमा को खोजने निकले, ऐसा तेज आज कहाँ दिखता है?—गली में फिरती हुई कोई छोकरी ही आज के युवक की प्रियतमा है। शर्त इतनी ही है कि वह बिरादरी की होनी चाहिए, और आधी अंग्रेजी पढ़ी हुई होनी चाहिए। आज समय ही कहाँ है—प्रियतमा की राह देखने का, या सौन्दर्य के लिए जीवन-स्वप्न निर्माण करने का!—"

वह जरा गम्भीर बन गया—"तब मैंने तो ढूंढ निकाली है!"

"कौन? प्रियतमा? हें—नौकरी से पहले वह?"

उसका कोमल स्वच्छ वदन अधिक गम्भीर बन गया, और अधिक तेजस्वी भी हो गया : "मुझे तो इनमें से एक के लिए भी समय नहीं—जैसे नौकरी के लिए, वैसे ही प्रियतमा के लिए। मैंने तो एक स्वप्न-प्रतिमा ढूंढी है।.....दुनिया में दो वस्तुओं का बहुत बार एक साथ रहने वाला युग्म तुमने देखा है ?"

"ना !"

"तब देखो—तेजस्वी से भी तेजस्वी हीरे में महाविष गुप्त रहता है। अमृत के समान रेडियम में भी विष के बिन्दु छिपे हैं, तो फणधर के हलाहल विष में अमृत बिन्दु क्यों न होंगे ?—मुझे लगन लगी है, महाफणधरों के हलाहल विष में से अमृतबिन्दुओं को हस्तगत करने की। मेरी स्वप्न-सृष्टि—प्रियमता की सृष्टि—जो समझो—उस भयंकर सर्पों से बसी दुनिया में है। मैं उस वस्तु के लिए जन्मा हूँ।

"मेरे जैसों के लिए नौकरी होती, प्रियतमा नहीं होती, जाति-जीवन ही नहीं होता। मेरे जैसों को तो आवारा जीवन.....महा-घोर अरण्य का संशोधन होता है।"

उसके बाद वह नहीं बोला; पर उसकी दृढ़ निश्चयात्मक आँखें खूब बोल रही थीं।

इस एकाकी भयंकर सृष्टि को स्वयं वरण करने के लिए जाते हुए, लावण्यमयी कन्याओं के कोमल हस्तदण्ड को छोड़ कर नागनियों के विष में हिलते-मिलते युवक की—पागल मनोदशा के लिए अन्तःकरण में खेद हुआ, दया उत्पन्न हुई, अव्यावहारिक पागलपन के लिए शोक हुआ।

मानो मेरे मन की बात भाँप गया हो—ऐसे वह बोला, "और उसमें नष्ट-भ्रष्ट हो जाऊं—तो अपने रूप से दुनियाँ को जगा देने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं नष्ट-भ्रष्ट हो जाऊंगा, पर दुनिया में अपनी निर्बलता के आँसू बहा कर उसकी कमजोरी को पंकिल बनाने की मेरी लेशमात्र भी आकाँक्षा नहीं।"

"इतना होने पर भी, मुझे एक ही—मात्र एक ही वस्तु दुःख देती है।"

"क्या ?"

"तुम्हारी इस एकाकी यात्रा में एकाध.....लावण्यमूर्तियों ने स्वयं प्रेरणा से प्रेरित होकर साथ दिया होता !"

"ओ हो !"—और वह जल्दी से चला गया।"

तब ही मैंने कहा था कि या तो यह नरोत्तम बनेगा, अथवा इसका नाम-निशान भी मिट जायेगा।

तब ही मैंने भविष्य-कथन कर दिया था कि या तो यह पुरुषोत्तम बनेगा, अथवा पागल बनेगा।

और आज मैं फिर से वही कहता हूँ; 'दुनिया की कायापलट या तो पुरुषोत्तम करते हैं; अथवा पागल करते हैं; या तो अद्भुत संयमी; अथवा अद्भुत प्रेमी। सामान्य मनुष्य तो सामान्य रीति से जीते हैं.....सवेरे से साँझ, साँझ से सवेरे।'

रे ! दुनिया को थोड़े और पुरुषोत्तम मिलें—अथवा पागल मिलें !

(१७)

उस साँझ का वह दृश्य मेरी तो आँखों से नहीं हटता।

चारों तरफ के अंधेरे से घिरी हुई वे निर्जन-नंगी-निचाट-नीली-भट-मैली चट्टानें शनैः-शनैः अधिकाधिक धुँधली पड़ती जा रही थीं।

आकाश में अकेली-अकेली खड़ी हुई, अंधेरे की चादर ओढ़े पर-छाया-सी, कोई-कोई टेकरी अपना-अपना व्यक्तित्व गंवाकर अंधेरे में अंधेरे के साथ मिली जा रही थी। और इस कारण उनकी और अधिक धुँधली लगती हुई गूढ़ छाया-मूर्तियाँ भयंकर भी होती जा रही थीं।

और इस प्रकार की, केवल सीधी, सूखी से भी सूखी, नीचे की अन्धकाराच्छन्न घाटी के ऊपर दृष्टिपात करती हुई चट्टान के समान एक अचल टेकरी, आकाश में निराधार-सी खड़ी थी, अन्य अनेकों

से अलग पड़ कर, इस प्रकार मुंह ऊंचा कर के जैसे कि रण में ऊंट खड़ा हो।

उस टेकरी के ऊपर उसके ही अनुरूप एक ठूंठ खड़ा था, पवन के सामने मस्तक ऊंचा कर के लड़ता हुआ, हरियाली की कोमल मिठास से शून्य, जिससे आकृति मनोरम लगे, ऐसी एक भी रेखा से रहित, जो आँख को ठहरा ले ऐसी रंग की लेशभर भी छाँट से पृथक्।

वह खड़ा था—अकेला, अडिग-अचल, अनुपम।

और इस प्रकार के शुष्क वृक्ष के कारण, सूखी जमीन के कारण, उस ऊंची खड़ी हुई करारे जैसी चट्टान-टेकरी के कारण—यह दृश्य सदा के लिए आँखों में बस गया।

बहुत बार जब कोई इकली-दुबली, पर अनुपम, आकृति देखने को मिलती है, तब यह दृश्य याद आता है।

जीवन में जिन को न्याय मिलना सम्भव ही नहीं था—इतनी जिनमें योग्यता नहीं थी, या किसी की सहायता नहीं थी, या अपनी प्रतिष्ठा नहीं थी, ऐसे अज्ञात पथ के अनेक पथिक—जिन्होंने न्याय प्राप्त करने के लिए जीवन को होम दिया, ऐसे यात्री मुझे उस अनुपम अचल एकाकी वृक्ष जैसे लगते हैं।

× × ×

यह दृश्य किसी को मनोरम न लगे, यह भी हो सकता है। फिर भी इसमें अर्थ तो है ही। मुझे लगता कि भीषण पथ के कोई-न-कोई उपासक जब तक दुनिया में हैं तब तक तो, ऐसी भयानक चट्टानों का चुप खड़े रहना अच्छा ही है; उनको प्रोत्साहन देने के लिए, उनको मार्ग बताने के लिए। उस पथ के पथिकों ने वैभव और विलास को लात मार दी होगी, माता और पिता को छोड़ दिया होगा, बाल-बच्चे और स्त्री को तज दिया होगा।

उनको, उनके-जैसी यह एकाकी चट्टान जो आश्वासन देगी, जो

प्रोत्साहन देगी, जो प्राण-दान करेगी, उसकी तुलना में मानव-कुल की प्रकट की हुई सहानुभूति किसी भी विसात में नहीं है।

उनको किसी अन्धकारावृत रात्रि में ऐसी चट्टान का आश्रय, माता की गोद की गर्मी की तरह—मातृभूमि की तरह प्यार-भरा लगेगा।

भले ही कवि और चित्रकार, अपने मन को मनोरम लगने वाली काव्य-सृष्टि खड़ी करें; भले ही उपन्यास के सरोवर और उद्यानों के सुन्दर वर्णन मनोरंजन करें; भले ही कल्पना के पंख पर उड़ता हुआ मन किसी सुन्दर निर्झर के शीतल जल-सीकरों में स्नान किया करे; पर मेरे लिए तो संसार से थके हुए, न्याय पाने के हरेक प्रयत्न कर चुके हुए, जीवन के सर्वरस को त्याग कर अकेले ही लड़ने के लिए निकले हुए किसी अज्ञात योद्धा के योग्य आश्रयस्थान जैसी, ये भीषण चट्टानें ही अच्छी हैं!—भीषण चट्टानें ही अच्छी हैं!

× × ×

मुझे तो इन चट्टानों में अनेक अर्थ भरे हुए दिखते हैं। मैं तो मानता हूँ कि जबतक ऐसी चट्टानें हैं और ऐसी चट्टानों का इतिहास है —तबतक कायदे कानून की धाराएं भले ही कुछ भी कहती रहें— अचल और मर मिटने वाले; थोड़े भी से योद्धा जबतक रहेंगे तबतक, दीप जलता ही रहेगा। ऐसा दीप प्रज्वलित रखने वाले एक अटल श्रद्धा से प्रेरित होते हैं। किसी न किसी दिन, किसी को समझ में न आने वाले अकस्मात् से यह मन्द-सा जलता हुआ दीपक सारे वन के वन को जला देगा।

एकाकी खड़ी हुई भीषण चट्टानो! भले ही तुम्हारा स्थान प्रकृति में नहीं सा गिना जाता हो; भले ही तुम्हारे पास कोई महफिल में मौज उड़ाने वाला न फटकता हो; पर तुमको जानने वाले जानते हैं कि तुममें तो माता-पृथ्वी का अमृत-रस भरा हुआ है। तुम तो, जगत् में जिनको किसी ने आश्रय नहीं दिया, उन डाकुओं की सच्ची

दोस्त हो। तुम ही, भीषण चट्टानो! तुम ही, एकाकी के युद्ध के प्रतीक की तरह दुनियां को अलंकृत कर रही हो!

तुम गम्भीरता से घिरी हुई, मृत्यु की-सी ठण्डी नजर से उस घोर अन्धकाराच्छन्न, हाड़-चाम कँपा देने वाली, भयंकर घाटी में, गहरा गहरा देख रही हो;—इस नजर ने तो भीषण पंथ के कई उपासकों को, मृत्यु के समय—मुक्त अट्टहास्य से दिशाएं गुंजायमान करने वाला बना दिया है!

री भीषण चट्टानो! किसी दिन—कोई कवि तो अवश्य तुम्हारे यशोगान की गाथा गाना प्रारम्भ करेगा, और 'रुद्रगान के बिना जगत् अपूर्ण है'—यह संदेश अपनी जर्जरित भग्न वीणा से देगा!.....

(१८)

अरे! बहुत बार चांदनी रात में जब तारे खिले होते हैं, तब वे [illegible] का जल—कावेरी का प्रपात, [illegible], ये सब एक ही साथ याद आते हैं। और साथ ही साथ कोई भटकता हुआ यात्री नजर में चढ़ जाता है। मुझे तो ऐसे अकेले यात्री की अकेली यात्रा—दुनियां भर के सब ...आकर्षणों में यह आकर्षण विचित्र लगता है।

वनराजि की परम्परा में चली जाती हुई लम्बी लम्बी पगडण्डी के अन्त में, सारी दुनिया की नजर से दूर—किसी एकान्त प्रदेश में एक सुन्दर निर्झर हो—उसी के किनारे छोटी-सी मनोरम वाटिका हो—उसमें थोड़े-से कुसुम-तरु, छोटे छोटे वृक्ष और रमणीय प्राकृतिक कुंज हों—इस प्रकार की किसी मनोहारी वाटिका में एक अज्ञात और अपरिचित मनुष्य की तरह शान्त जीवन व्यतीत होता हो। सवेरे झरने में नहाना, वाटिका में थोड़ी निराई करना, कुसुम-तरुओं को पानी देना, पके हुए फल और पूजा के फूल उतारना, एक छोटे-से मन्दिर में शंकर की मूर्ति के सामने सब कुछ भूल जाना, इधरकी एकाध वाटी और उसके ऊपर दो-चार फलों के पर निर्वाह करना;

मित्रों में थोड़े-से नन्हें वृक्ष, दो चार सुरीले पंछी, एकाध हिरण और थोड़ी-सी चिन्तन शिलायें, वैभव—आकाशीय पवन और निस्सीम मैदान का, विलास—मार्ग में मिल जाने वाले किसी भूले-भटके फल का, कला—आकाश में आते हुए सन्ध्या और प्रभात के रंगों की, साहित्य—परमशान्ति में जनमते थोड़े-से विचारों का, और जीवन—चमक-दमक-कोलाहल मात्र से दूर ऐकान्तिक; उपयोगी नहीं तो अपवित्र भी नहीं, महत्वाकांक्षी नहीं तो प्रतिष्ठित पाप का नहीं, लोक-संग्रह के लिए नहीं तो लोकाश्रय के ऊपर भी नहीं—बहुत बार मुझे लगता है कि भले ही यह तेजस्वी प्रतीत न हो, पर ऐसा शान्त जीवन बिताना किसी भी समय शक्य तो बने—किसी भी समय शक्य तो बने !

× × ×

और दुनियां को छोड़ते समय किसी को मेरे लिए कुछ कहने को न हो—प्रशस्ति के रूप में या उपालम्भ के रूप में, आकस्मिक जन्म की तरह अत्यन्त शान्त रीति से जीवन का भी अज्ञात अन्त हो जाय; कोई न जाने, कोई न सुने, कोई याद न करे, किसी को न लगे, किसी का कोई काम न रहे, किसी को आँसू न आय। एक फूल के पौधे से जिस प्रकार फूल गिर पड़ता है, ठीक उसी तरह स्वाभाविक रीति से जीवन समाप्त हो जाय। धीरे से गोद में लेती···बालक की तरह माता धरित्री अपनी गोद में ले ले। और कोई भूला-भटका पत्थर तक भी वहाँ निशान बताने के लिए खड़ा न रहे।

पृथ्वी का अपरिमित सौन्दर्य देखने के लिए निकला हुआ एक भूला बालक, जिस प्रकार माता की अंगुलि पकड़ कर घर जाता है, वैसे ही एक दिन इसी प्रकार की भावना के साथ घर जाने के लिए निकलना हो !—भले ही, यह अन्त तेजस्वी न हो, मुझे तो यह अत्यन्त, अत्यन्त आकर्षक लगता है !

मुझे तो परम-विश्वास है कि दुनियां में कुछ न करने वाले भी कुछ करते ही हैं। इस प्रकार के एकाकी यात्रा के कोई कोई भूले-भटके नरसिंह, भूले हुए बालक को समय समय पर अपना मार्ग बताते हैं। मेरे एकाकी शान्त जीवन में भी इस प्रकार अकस्मात् कोई समय होवे या न होवे—तथापि इसमें भी किसी वर्षाझिरी रात में एकाध भूले हुए पथिक को सहाय-रूप होने का सद्भाग्य तो मिलेगा ही। किसी घायल पंछी की मलहम-पट्टी करना भी मिलेगा। त्रास से भागी हुई कोई हरिणी भी उसमें आश्रय-स्थान लेने के लिए चली आयगी और जीवन के अत्यन्त मधुर पलों की तरह ऐसे प्रसंग हृदय में सुरक्षित रहेंगे।

× × ×

स्वजन-सम्बन्धी-मित्र ये सब सम्बन्ध तो दुनियावी पट के ऊपर एकाध रंग की छाया से आवृत होते हैं; केवल निर्मल और निरपेक्ष प्रेम की झाँकी के लिए तो मनुष्य को एकान्त चाहिये। वहाँ किसी-न-किसी रूप में विश्व का परम-सत्य मिला रहता है। फिर वह भले ही प्रेम के रूप में मिले—या ऐसे भव्य एकान्त के जो थोड़े-बहुत यात्री हैं, उनकी सहायता के रूप में मिले, यह अकस्मात् का ही विषय है। यह चाहे जिस रूप में मिले, किन्तु जीवन की अन्तर्गत आवश्यकताओं के लिए यह आवश्यक होता है। मनुष्य नित्य के व्यवहार में इतनी तो ध्वनियाँ करता है कि आकाश में सुप्त रहने वाली ध्वनियों को सुनने की शक्ति उसकी गुम हो गई है। पर सम्भव है, कि ऐसे भव्य एकान्तवास में, कोई अज्ञात ध्वनि भी मनुष्य को आगे प्रेरित करने के लिए सामर्थ्य धारण करती हो!

× × ×

इन समग्र नई शक्यताओं ने ही, मुझमें, पर्वत-माला में चली जाती हुई लम्बी लम्बी पगडण्डी की यात्रा का शौक पैदा कर दिया है। और ऐसे किसी अज्ञात प्रदेश का जीवन तेजस्वी नहीं है, इसीलिए

यह और भी अधिक आकर्षक लगता है। कारण यह है कि विजयी और तेजस्वी जीवन जिस एक वस्तु को शायद ही कभी जान सकता है—वह प्रेम, यदि ऐसे ही एकान्तवास में धीमे धीमे परिपक्व होने वाला तत्व हो, तो, 'ना' नहीं की जा सकती। दुनियां जिसे जानती है वह प्रेम, बहुत रंगों से रंगा हुआ गंदला पानी मात्र ही है।—और इसी कारण जिन्होंने अमर-तत्व के रूप में प्रेम की आराधना करने का विचार मात्र भी किया है, उन्होंने दुनियावी प्रेम की भस्म के ऊपर ही अपनी इमारत खड़ी की है। जिस प्रकार ऐसी भस्म के बिना इसका सच्चा स्वरूप नहीं मिलता, उसी प्रकार दूसरे के पास से यह भस्म भी तब तक नहीं मिल सकती, जबतक प्रेम का सच्चा जन्म न हो जाय। एकाध मनोरम वाटिका, मुझे प्रेम का प्रतीक लगती है, और इसी कारण इतनी आकर्षक लगती है।

(१६)

सिंह के समान वीरता-भरी आवाज से उसने जवाब दिया—"तुम महान् हो, यह सच है; पर सत्य तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक महान् है! मैं जो कुछ मानता हूँ, वही कहता हूँ। ईश्वर नहीं हो सकता—हो सकता है विज्ञान; धर्म नहीं हो सकता—हो सकती है व्यवस्था; अज्ञेयवाद नहीं हो सकता—हो सकती है कल्पना की निर्बलता।"

एक मधुमय प्रसाद-युत मन्द-मधुर स्मित करके गुरु ने उत्तर दिया: "तेरे जैसे शिष्य को पाकर मुझे सचमुच आनन्द होता है। जो मनुष्य किसी बात को एकदम स्वीकार नहीं कर लिया करता, वही मनुष्य किसी दिन बात ढूँढ निकालता है। तुम्हारा मार्ग स्पष्ट है।"

और उसके बाद गुरु-शिष्य किसी दिन ईश्वर के ऊपर, अज्ञेयवाद के ऊपर, धर्म के ऊपर, बातचीत नहीं करते। उनकी बातचीत के विषय अनेक थे: रात्रि-तारे-फूल-विज्ञान-सत्य-सौन्दर्य—और ऐसे ही अनेक विषय, जिनके सम्बन्ध में बात करते हुए कोई नहीं थका, जिन बातों का विषय किसी दिन पुराना नहीं पड़ा।

फिर साधु तो, रमते-राम की तरह, अज्ञात आये हुए अतिथि की तरह चला गया। हजारों और लाखों मनुष्यों के समूह में अनजान बनकर फिर मिल गया। उसका यही क्रमशः अचानक आना और अचानक चले जाना।

वर्षों पीछे, एक दिन पूर्णिमा खिली हुई थी। आकाश में से मानों केवल अमृत बरस रहा था। पृथ्वी, आधी सौन्दर्य में और आधी किसी गूढ़ दर्शन में, शोभित हो रही थी। वृक्ष के पत्तों के पुष्प-स्तबक जमीन पर रेशम से भरी चित्रकारी के समान दीप्त हो रहे थे। उपवन के फूलों में से मन्द सुगंध आ रही थी। फव्वारा शनैः शनैः जलबिन्दुओं को बरसा रहा था। मन्द गति से बहता हुआ पवन कुछ मीठे विकीर्ण स्वरों को ला रहा था।

उस समय शिष्य बाहर बैठा बैठा, तारे और चाँदनी, फूल और जल को निहार रहा था।

अचानक वही परिचित आकृति—अपने गुरु की—उस रमते राम साधु की—देखने में आई। वह ऐसे आ रहा था, जैसे कि लम्बी यात्रा से चला आ रहा हो। शिष्य ने दौड़कर नमस्कार किया; बहुत दिनों बाद मिलने का आनन्द प्रकट किया।

दोनों बैठ गये।

अनेक बातें चली। जलधि-जल की तरंग की, हिमालय की पग-डण्डी की, नर्मदा के जल की, गंगा मैया की, जमुना जी की आरती की, अनेक बातें चलीं। पर जब साधु ने अपने देखे हुए किसी सुन्दर निर्झर का वर्णन शुरू किया, और जब निरभ्र आकाश में हँसती रहने वाली चन्द्रामृत-धाराओं को उसने सहस्र गुणा अधिक सुन्दर बना दिया, तब मानों रह न सकता हो—शरीर के अंग अंग को तपा देने वाले किसी महाशोक से पीड़ित हो रहा हो, इस प्रकार शिष्य रो पड़ा। आँसू बहाकर नहीं—सिसकियां भर भर कर चुपचाप नहीं—दहाड़ें मार मार कर।

"मुझसे न कहो, मुझसे न कहो,—किसी सुन्दर स्थान की कथा मुझसे न कहो : पृथ्वी की अब कोई शोभा मुझसे देखी नहीं जाती। मुझसे यह न कहो!

"क्यों भाई! जीवन की यह नई फिलासफी तुझे किसने दिखाई?"

"मैं अनाथ हूँ। मैंने अपने जीवन-स्तम्भ के समान जवान पुत्र मृत्यु में गँवा दिया है। आज मैं तुमसे आर्तनाद में एक महा प्रश्न पूछता हूँ :

'अब वह किसी प्रकार मिल सकता है या नहीं? वह अब कहाँ होगा? वह कहीं से भी, किसी प्रकार भी, फिर मिल सकता है क्या? सौन्दर्य की कोई भी कथा मुझे उसकी याद ताजा करा देती है। वह कहाँ होगा?"

गुरु ने उसके कंधे पर धीरे से हाथ रखा : "तुम्हारा जो पुत्र गुम हुआ है, उसे तुम्हारे पृथ्वी के सौन्दर्य की क्या आकांक्षा है? तू तो फूल देखता है, पर वह फूल की सुगंध के रूप में सारे विश्व में रमा है। तू तो चन्द्र की अमृतधारा देखता है; पर वह इसमें अमृत-कण-सा विलसित हो रहा है। तू तो एकाध झरना देखता है, पर वह हजारों झरनों में लाखों जल-तरंगों के रूप में घूमता फिरता है। और तुझे शायद यह कल्पना की निर्बलता लगती हो—"

"मुझे अब कोई ऐसा अज्ञेय और गूढ़ तत्व बताओ, जो आश्वासन दे, जो विश्राम दे, जो आशा दे—"

"भाई, अभी तुझे बताने का नहीं। अब तेरे अन्तर में जो उगा है—एक गूढ़ और अज्ञेय प्रेरक बल का आश्रय खोजने का—इसका ही नाम अज्ञेयवाद, धर्म, और ईश्वर है। यह तुझे आश्वासन देगा, आशा भी देगा।

शिष्य केवल मौन रहकर सुनता रहा; साधु आगे बढ़ा।

"किसी भी प्रकार का शोक, मनुष्य को फिर से बालक जैसा, श्रद्धावादी—कल्पनावादी—आशावादी बना देता है। विषाद में यह

परम रसायन है। जीवन के गम्भीर से गम्भीर पर्दे को एकमात्र विषाद ही उघाड़ सकता है। पर आशा के बिना अकेली करुण घटना, मानव-हृदय में ठहर ही नहीं सकती,—इसी से पता चलता है कि कोई अदृश्य सत्ता परम स्नेह से इन सबके तारों को यथा-तथा चलाती रहती है।"

"और मेरा दूसरा प्रश्न, 'वह कहाँ होगा' ?"

"वह कहाँ होगा, यह जानने का अधिकार मनुष्य को नहीं।" गुरु ने कहा—"वह कहाँ नहीं है, केवल मात्र यह जानने का मनुष्य को अधिकार है। वह वहाँ नहीं हैं, जहाँ कि कुछ भी नहीं है।"

× × ×

एक क्षण के पश्चात्—चन्द्र की तेज-धारा अधिक सुन्दर बनकर पृथ्वी पर पड़ रही थी; पर इस कल्पना-मात्र से शिष्य के मुख पर आनन्द छा गया था कि इसमें पृथ्वी पर के हजारों मां-बापों के बालक खेल रहे होंगे!

(२०)

वीरत्व की यह गाथा सुनने के बाद तो छोटी-मोटी मुश्किलों की फरियाद करते शरम आती है और बड़ी मुश्किलों का सामना न करते हुए शरम आती है। हृदय हर वक्त इस प्रकार तरसता रहता है, जैसे कि यही जीवन मन्त्र बना रहता हो—मुश्किलें है और नहीं हैं।

वह वीरगाथा यों थी :

वितस्ता नदी ने वेद का घोष सुना होगा; पर उसको याद रहने वाला रण-घोष तो इस सैनिक का ही है।

'वाह गुरु की फतह !' जब इस वीरघोष से आकाश गूंज रहा था, तब सारे गांव में केवल मात्र एक ही घर में शोक के बादल घूम रहे थे।

उस अज्ञात सिख सैनिक का एक इकलौता पुत्र, जिसकी जवानी फूट रही थी, वीरत्व उग रहा था और ठीक बीस-बाईस वर्ष की आयु

थी—मृत्युशय्या पर पड़ा अन्तिम श्वास ले रहा था। दो क्षण में उसने दुनियां को छोड़ दिया; सगे सम्बन्धी और कुटुम्बियों को, मित्रों और आप्तजनों को महाशोक की छाया ने घेर लिया।

पर उस अज्ञात सैनिक ने धीरे से अपनी तलवार ली, उसको म्यान से बाहर निकला; अपने प्रिय पुत्र के शव के पास घुटने टेक कर संसार को छोड़ते हुए उस अनादि तत्व को उसने नमस्कार किया और 'वाह गुरु वाह !' के वीर-घोष के साथ घर के पास से निकलते हुए जत्थे में मिल गया—रण में खप जाने के पागलपन से नहीं, अपने 'वाह गुरु वाह !' के नाद को वीर-घोष में मिला देने के जीवन-बल से।

उसे पता था, उसे पता था, कि जब परम करुणावस्था का क्षण जीवन में आता है, तब उसमें गम्भीर मन्थन को जाग्रत कर देने वाला गूढ़ रहस्य छिपा होता है। इसी कारण उसने अपने पुत्र के शव को अन्तिम नमन किया और चल निकला। उसकी आवाज सबकी अपेक्षा अलग सुनाई दे रही थी; 'वाह गुरु की फतह !'

और गुरु ने जब यह जाना—और कोमल शब्दों में उसकी भर्त्सना की—पुत्र का शव घर में छोड़कर चल निकलने के लिये, तब उसने इतना ही जवाब दिया, 'जिसका था, उसके हाथ में सौंप दिया—उसकी अंगुलि पकड़ा दी—फिर किस चिन्ता के लिए एक क्षण भी ठहरूँ ? 'वाह गुरु की फतह !'

सारी सेना के कण्ठ में से एक आवाज निकली, 'वाह गुरु की फतह !'

(२१)

रे ! यह साधारण-सामान्य जीवन—बहुत बार, बहुत बार, इसे उखाड़ कर फेंक देने की मर्जी होती है।

ऐसा ही हो—जीना श्वास लेने के लिए या मौके बेमौके खर्च करने के लिए, बोलना-घूमना-फिरना प्रतिष्ठा के लिए, किसी महा-

कालोदधि में पल-पल करके बह जाने वाले जीवन का यदि यही उपयोग हो—और यह उपयोग ही व्यवहार, दुनियां, जीवन ऐसे नामों से पहचाना जाता हो, तो इस जीवन को, वट के ऊपर से तोता जैसे बरबण्टी तोड़ता है, वैसे ही तोड़कर फेंक देने का मन होता है।

ऐसा ही जीवन हो तो जीवन भर के खेल में क्या हानि?

यह उपहास ही जीवन हो तो, तो जीवन भर की निद्रा में भी क्या हानि?

अरे! इसकी अपेक्षा तो नदी के उपकण्ठ पर, या निर्झर के किनारे, पर्वतों पर और जंगलों में, खेतों में और टीलों पर—निरुद्देश्य घूमना हजार दर्जे अच्छा है?

यदि सामान्य-संसद की इस प्रणालिका से कोई प्रतिष्ठित ठग अथवा ले-भागू भिखारी ही बनना हो, तो—तो दुनिया भी पागलों का ही हस्पताल है, और उसने अपना उपहास करवाने के लिए ही अन्य अनेक हस्पताल खोल लिये हैं।

पर उस हरे-भरे पर्वत के ऊपर, एक साँझ को ऐसा—जो आया और गया—ऐसा पल आज मुझे याद आता है!

दूर दूर के रमणीय प्रदेशों के ऊपर संध्या का तेज पड़ रहा था। थोड़ी दूर वन-जंगलों के ऊपर अस्त होती हुई साँझ का हलका अँधेरा ढल रहा था। तलहटी पर के किसी गाँव में शंख की ध्वनि हो रही थी। पास के पर्वत पर मन्दिर की झाँझ बज रही थी। शान्त, परम-शान्त संध्या में—भूले-भटके आते हुए के शब्द चित्त को ऐसे अधिकाधिक शान्त बना रहे थे, जैसे कि कोई निगूढ़ संदेश ला रहे हों।

और ऐसे किसी क्षण में एक विचार आया—मानों स्वयं स्फुरणा हुई हो—मानों गगन में से आ पड़ा हो, 'जीवन क्षणिक होगा, पर इसका हरेक क्षण अनन्तता के साथ जुड़ा हुआ है, इस कारण वह भी अनन्त है।'

'इसलिए जो क्षण में सच्चा जीवन जीता है, वह अनन्त में भी सच्चा ही जीता है।'

'इस पृथ्वी पर इस स्वरूप में फिर आना नहीं—और जिस रीति से जो मिलता है, उसी रीति से फिर मिलना नहीं; इसलिए एक क्षण की भी, रेडियम के एक अणु की तरह, बहुमूल्य गिनकर यदि हेतु-पूर्वक योजना करता है तो रस-पूर्ण जीवन बिता सकता है।'

जीवन की इस मर्मकथा को जानने वाले के लिए किसी भी प्रकार की अतृप्ति नहीं; साधनों की कमी नहीं और वैभव का मोह नहीं; जहाँ पल पल ही रत्न की रज है, वहाँ अपने जीवन की अन्तरंग शक्ति ही मनुष्य को सत्य दर्शन करा सकती है। जिस प्रकार उसने एक भी पल निकम्मा नहीं खोया, उसी प्रकार उसे एक पल की उतावली भी नहीं। ऐसों का जीवन रसभरा, हेतु-पूर्ण—आनन्दमय और अनन्त है।

(२२)

उसका एक भी शब्द समझ में नहीं आता, और फिर इतनी दूर से तो शब्द भी आवाज जैसे ही लगते हैं; फिर भी सच्ची मानवता में जो एक प्रकार का गूढ़ बल रहता है, उसके आधार पर कल्पना करने से लगता है कि वह आनन्द मना रहा है—पर उसमें गहरा शोक, वेदना, विरह, व्यथा और आँसू—छलाछल भरे हैं।

साबरमती के सामने के किनारे से चाँदनी में से छनछन कर वे शब्द आते हैं। रजनी को खिला हुआ देखकर उनको अपनी पर्वत-माला याद आती है। मनुष्य जब निस्वार्थ भाव से सौन्दर्य की किंचित् सी भी झांकी लेता है, तब उसके हृदय में एक अकथनीय भाव बिना जन्म लिये नहीं रह सकता। आज रजनी को देखकर उन पठानों का समूह-गीत जनमा है। इसमें उनके पर्वतों का वर्णन होगा, नदियों की शोभा का बखान होगा, उनके छोटे-से घर की बातें होंगी, प्रियतमा की विरह-कथा होगी, बाल बच्चों की वेदना होगी।

इसी प्रकार, मेरी जन्मभूमि के रहने वालो ! अफ्रीका के मैदान में—नर्मदा के तट और विन्ध्यावटी, आबू की पर्वतमाला और गीर के जंगल, मही के कोटर और वात्रक के टीले, शींगवड का कराल तट और गिरनार की एकाकी चट्टान याद आती होगी, रजनी को खिला हुआ देखकर गुर्जर रमणियों ने इसी प्रकार अपना गरबा शुरू किया होगा।

इसी कारण मैं तुम्हें कहता हूँ—कवि जनो ! कि ऐसी कविता की वाणी में अपने गुजरात की सौंदर्य-भूमि का वर्णन करो कि अफ्रीका में, बर्मा में, मद्रास में या अबीसीनिया में—गुजराती और गुजरातिनियां जहां कहीं भी होवें, उन्हें अपना नर्मदा का तट याद आवे, ताप्ती का किनारा याद आवे, अरब सागर की तट से टकराती हुई तरंगें याद आवें, अपनी भूमि याद आवे और प्रत्येक क्षण वह अधिकाधिक गुजराती बनता जाय।

उनके अन्तर में—वे चाहे कहीं भी हों—गुजराती भाषा का गौरव जागता रहे। उनके अन्तर में—वे चाहे कहीं भी हों—लज्जाराम का 'अभिमन्यु युद्ध' गूँजता होवे. नरसिंह का 'वैष्णव-जन' याद आता हो, 'मारा केसर भीना' की तमन्ना हो, 'ज्यां-ज्यां एक वसे गुजराती'—यही उसका रस होवे, 'शंखनाद संभणाये' नाद होवे।

इसलिए कहता हूँ—कविजनो ! अपनी अन्तर-वेदना को अपने अन्दर ही विलीन कर दो। हजारों मनुष्य जिस वेदना को गाने के लिए तड़प रहे हैं, उस वेदना का गीत शुरू करो।

उनके पास भाषा नहीं, उनको बोलना नहीं आता। तुम बोलो—वे सब ग्रहण कर लेंगे।

उनका हृदय बोलता है, पर जीभ नहीं हिलती। उनके हृदय के बदले तुम बोलो। देश-देश प्रतिध्वनि हो उठे, ऐसा एक गीत बनाओ ! ऐसा एक गीत बनाओ, जो कि नये गुजरात की सृष्टि कर दे, रक्त-पिपासु असभ्यता को नष्ट करने के लिए मोह को अधिक भयंकरता

का रूप देकर नहीं, किन्तु प्रत्येक मनुष्य में रहने वाले एक सुप्त सहानुभूति के स्वर को जाग्रत करके। उस मूर्च्छित स्वर को तुम जगा दो, और नया गुजरात जन्म लेगा !

(२३)

'पर ऐसे निर्जन एकान्त प्रदेश में सहायता तो किसकी मिल सकती है ? मार्ग कौन बतावे ?'—ऐसा तुमने कहा न ? इसका उत्तर यह है :

उसके मुख के ऊपर स्मित चमक उठा। उसने धीमे मधुर स्वर से जवाब दिया—'जब मैं ऐसे रण-प्रदेश में बिना किसी की सहायता के, नदी की मूल शोधने जैसी मामूली दिखने वाली बात के लिए अकेला निकल पड़ा तब, मुझे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि विश्व में कोई भी प्रयत्न मामूली नहीं रह सकता। प्रयत्न में आगे बढ़ते हुए ही मनुष्य को नया मार्ग-दर्शन मिलता है।

'ऐसी घोर रेती के सागर में—जहां किसी का पग-रव, पक्षी की किंचित्-सी ध्वनि, या पवन से खड़खड़ाता पत्ता भी मनुष्य को आश्वासन देने में समर्थ हो सकता, उस दिन, रेती और रात में तारे—इनके सिवाय अन्य कोई मेरे लिए मार्ग-दर्शक नहीं था।

'पर ज्यों-ज्यों रास्ता तय किया, त्यों-त्यों मैंने अपने अन्दर होने वाला परिवर्तन देखा।

'एक प्रकार की निर्भयता हृदय में उत्पन्न हो रही थी, एक प्रकार की श्रद्धा हृदय में आ रही थी, एक प्रकार की प्रयत्न को, प्रयत्न की खातिर ही बढ़ा लेने की आकांक्षा प्रकट हो रही थी।

'और आगे जाते हुए, जब मुझसे पहले उस रास्ते पर गए हुए किसी अभागे यात्री की बिखरी हुई थोड़ी-सी हड्डियां, मुझे पगडण्डी के रूप में मिलने लगी, तब अन्तर में भय का संचार होने के बदले गहरा आश्वासन मिला, कि इसी प्रकार इतनी दूर अन्त में मेरी

बिखरी हुई हड्डियां भविष्य के किसी-न-किसी पथिक को रास्ता बनाने में काम आएगी।

'उसी प्रकार मेरे अन्तर में एक ऐसी तो विचित्र श्रद्धा बैठ गई कि जब मनुष्य का प्रयत्न सच्चा होता है, तब तुच्छ लगने वाली वस्तुएं उसके मार्ग को किसी-न-किसी प्रकार सरल बनाती हैं।

'मनुष्य अकेला, असहाय या निराधार नहीं है। उसके आस-पास हजारों वस्तुएं हैं, लाखों परमाणु हैं। उनमें से कोई-न-कोई, एक अथवा अन्य रास्ते से उसको मार्ग-दर्शन करा ही देती है।'

(२४)

काश्मीर के राजा चन्द्रापीड़ ने ऐसा सुन्दर स्थान देखकर वहां एक मनोरम उद्यान बनवाने का निश्चय किया।

उसने आज्ञा दी : 'जाओ! परिचारिको! नगर के बाहर उस रमणीय सरोवर के पास मनोरम वाटिका बनवानी है। शिल्पी और मालियों को बुला लाओ। आगामी वसन्त ऋतु का कुसुमोत्सव वहीं पर मनाने की तय्यारी करो। प्रजा के लिए वह स्थल मनोरंजक होगा।'

सारी तय्यारी हो चुकी। शिल्प-शास्त्र के नियमों के अनुसार शिल्पियों ने रूपरेखा खींच दी। मन की तरंग सदृश पारिजात के वृक्षों से उद्यान को सजाने का निश्चय किया गया; और ऐसी सुन्दर रचना हो गई कि काश्मीरी केसर-वृक्षों की पदावलि स्थान-स्थान पर शोभित हो उठे।

किन्तु जहां उद्यान का शृंगार-मण्डप बनाने का निश्चय किया गया था, वहीं पर एक चाण्डाल की झोंपड़ी थी। एक दीन वृद्ध कंगाल चाण्डाल वहां पड़ा रहता था।

उससे सबने कहा—'रे भिखारी! चाण्डाल! इस जमीन पर राजा ने उद्यान बनाने की आज्ञा दी है, इसलिए तू यहां से दूर हो जा।

ऐसी जगह चला जा, जहां तेरे ये अस्तव्यस्त चीथड़े और थेगले नजर न आयें।'

चाण्डाल कुछ बोला नहीं। किन्तु दूसरे दिन भी वह वहीं बैठा हुआ था, और बैठा-बैठा अपना जीर्ण वस्त्र संवार रहा था।

दूसरी बार सैनिक आये : 'जाता है या नहीं ?...धक्के खायगा।'

चाण्डाल ने दृढ़ता से उत्तर दिया : 'तुम मेरी झोंपड़ी मेरे ही हाथों से नहीं गिरवा सकते।'

'अच्छा ? तो क्या तुझ चाण्डाल की झोंपड़ी को हम हाथ लगायेंगे ?'

'झोंपड़ी उठाने से पहले तो तुम्हें मेरा शव उठाना पड़ेगा। मैं यहां से नहीं हटूँगा।'

चन्द्रापीड़ के पास फरियाद आई। राजा ने पूछा : 'लेकिन उसे आपत्ति क्या है ? उसकी जमीन की अपेक्षा उसे तिगुनी जमीन दे दो—पैसा दे दो, फिर क्यों नहीं मानेगा ?'

परिचारक फिर दौड़ गए : 'ले, राजा ने कहा है, तिगुनी जमीन ले ले और जितना चाहिए पैसा ले ले। फिर क्या हुज्जत है ?'

चाण्डाल ने और दृढ़ता से केवल अपना नकारात्मक सिर हिलाया और अपने काम में लग गया।

'धत् !—जब मार पड़ेगी, तभी मानेगा' अपनी ऐंठ दिखाते हुए सैनिक चले गए।

× × ×

दूसरे दिन महाराज चन्द्रापीड़ स्वयं वहां आए। चाण्डाल अपने एकमात्र जीर्ण-वस्त्र को संवार रहा था—अलग-अलग चीथड़े लगा रहा था।

महाराज ने कहा : 'रे भाई चाण्डाल ! यहां प्रजा के लिए उद्यान बनेगा, इसमें तुझे झोंपड़ी देने में क्या आपत्ति है ?—चाहिए, तो तिगुनी जमीन ले ले।'

वृद्ध चाण्डाल ने खड़े हो, हाथ जोड़कर राजा को नमस्कार किया : 'महाराज ! जिस जगह आपका महल है, वह जगह मुझे झोंपड़ी बनाने के लिए देंगे ?...आप यह जमीन ले लीजिये !'

'ऐसी पागलपन की बात ! ऐसी फालतू बात क्यों करता है ? महल में कितनी पीढ़ियाँ हो गुजरी हैं । तेरी झोंपड़ी के लिए मैं महल गिरा दूँ ?'

'महाराज ! आपके मन में यह झोंपड़ी है, किन्तु मेरे मन में तो यह महल ही है। मेरे बाप-दादा यहीं रह गए हैं। इसका मोल हो ही नहीं सकता।

'मैंने ऐसा सुना है कि यह धरती माता जैसी पवित्र है । केवल राजदण्ड के भय से अथवा मरण के भय से जो माता की अमृत-मयी गोद को भूलकर उसे छोड़ देता है, वह मनुष्य रौरव नरक का अधिकारी बनता है। यदि अपने इस कंगाल के शरीर को समर्पण कर देने से मेरी यशस्विनी जीवन-भावना अखण्डित रहती हो, तो मुझे अपने शरीर का लेशभर भी मोह नहीं है, इसके नाश का किंचित् भी शोक नहीं है। मैं तो यह मानता था कि आप जैसे अधिकारी जिस प्रकार पद के अधिकार में अत्यधिक उच्च मनोभावना रखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि और संस्कार में भी उच्च मनोभावना रखते होंगे। इसी को आधार बनाकर मैंने आपकी कुछ मन्दायमान स्मृति को जगाने का प्रयत्न किया था। किन्तु राजदण्ड का भय या कोई महान् प्रलोभन मुझे भ्रष्ट न कर सके, इसलिए मुझे स्पष्ट कह देना चाहिये कि भले ही आपके मन में यह झोंपड़ी हो, किन्तु मेरे मन में यह बचपन से संभालने वाली मेरी प्यारी माता है। मोह से व्यग्र बनकर इसे छोड़ूंगा नहीं। शरीर तो आज नष्ट हो जाय या कल नष्ट हो जाय, उसकी चिन्ता मुझे नहीं है। किन्तु मेरी माता की गोद में ही नष्ट हो, यह धर्मलाभ मेरे मन में अधिक महत्वपूर्ण है।'

राजा और अन्य अधिकारी, चाण्डाल की वीरवाणी सुनते रहे। पहले से ही मैं इस वस्तु-स्थिति को नहीं समझ सका—यह सोचकर राजा को ग्लानि हुई। चाण्डाल इसे भांप गया।

'पर एक रास्ता है महाराज!'

'क्या?'

'आपके जैसे संयमी राजा तो पहले से उसे ही ग्रहण करते आये हैं!'

'क्या?'

'मैंने सुना है कि प्राचीन समय में जब कोई ऐसी सार्वजनिक वस्तु तय्यार करनी होती थी, तो महाजनों के साथ राजा, उसके स्वामी के पास एतदर्थ याचना करने जाते थे।'

राजा की आँखें खुल गईं। चाण्डाल की बात सच्ची प्रतीत हुई। उस समय तो वह चुपचाप वहां से चल निकले।

× × ×

दूसरे दिन राजा चन्द्रापीड और मुख्य-मुख्य नागरिक चाण्डाल के पास वह जमीन माँग रहे थे।

और श्वेत केशों से शोभित वह वृद्ध चाण्डाल अपने एकमात्र जीर्ण-वस्त्र को लेकर सबको नमस्कार करता हुआ वहां से चल दिया।

सोता हुआ प्रभात जैसे जागता है, उसी प्रकार आलस्य से अंगड़ाई लेकर वह उठ बैठी।

उसका अंग उपांग लालित्य से शोभित हो रहा था। शरीर उसका इस तरह प्रकाशित हो उठा, मानों यौवन लहर ले रहा हो। सारी देह में सुन्दरता छागई।

उसके केश-कलाप में से फूल गिरने लगे—मानों आकाश से तारे गिर रहे हों।

पर वह कोई ललना न थी; न मुग्धा थी, न किशोरी थी, न नवयौवना थी।

समस्त देह में सोती हुई कवि की मौन-वाणी प्रकाश पा रही थी। कोमल प्रभात की भांति वह जागी थी; सुन्दरता से शृंगारित देह की तरह रूप ले रही थी; लावण्यमूर्ति की भांति रेखाङ्कित हो रही थी।

❀

वृद्धावस्था किसी दिन मुझे आवे ही नहीं, ऐसी इच्छा मैंने कभी नहीं की। वृद्धावस्था भले ही आवे, पर वृद्धावस्था का दोष न आवे। लोकैषणा के लिये मिथ्या मोह न जागे, अपने अनुभव की मर्यादा विस्मृत न हो, उछलते यौवन के गुणों को दोष में ढँक न दिया जावे, सच्चे उल्लास का अपमान करने वाली जड़ता न आवे।

इतना न आवे, और फिर भले ही, कल तो क्या, आज ही वृद्धावस्था आ जावे।

ऐसी वृद्धावस्था—यौवन भी जिसे देखकर शरमा जावे—ऐसी वृद्धावस्था—भले ही आज आ जावे।

❀

लम्बा पंथ—और विशद नील निरभ्र आकाश—इनमें सौन्दर्य है, इस कारण इनसे मुझे मोह नहीं है; इनमें जीवन की अनन्त शक्ति की प्रतिध्वनि है, इसीलिए मुझे इनसे मोह है।

❀

समग्र-रूपेण जीने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को विरोधाभास में ही जीना पड़ेगा।

❀

पृथक्करण करके जीवन जीने की इच्छा करने वाले हरेक व्यक्ति में विरोधाभास दिखाई देगा। वह आज जो कुछ कहता है, कल उससे उलटा करेगा। ऐसा होने पर भी उन दोनों वचनों में एकवाक्यता वही ही होगी।

❀

महान् बनने के लिए महत्ता की चोटी कदाचित् इस परिस्थिति में रहती है : सिद्धान्त के लिये एकाकी बन जाने में; अपनी श्रद्धा में एक बार फिर अकेला पड़ जाने में।

❀

छोटे बालकों को निद्राग्रस्त देखकर पहले सोते हुए फूल याद आते थे। अब थका हुआ मुसाफिर याद आता है—मानों कि लम्बी यात्रा की थकान को थोड़े समय के लिए उतार रहा हो!

❀

जीवन—जीवन की यह विशेषता—तुमने किसी दिन देखी है!—तुम चाहे इसे किसी भी दृष्टिकोण से देखो। पागल के अथवा प्रेमी के, दार्शनिक के अथवा फकीर के, व्यापारी के अथवा विचारक के, इसके

अन्तर्गत रस किसी दिन जीर्ण नहीं होता, और किसी दिन समाप्त भी नहीं होता।

❀

शुद्ध सत्य के लिए नहीं, अपितु अपने माने हुए सत्य के लिए—जितनी तय्यारी हम युक्ति के लिए करते है, उतनी तय्यारी सहन करने के लिए नहीं होती। इस निर्बलता में ही पराजय का सच्चा कारण रहता है।

❀

वह मनुष्य जीवन को समझ सकने वाला कहलाता है, जिसने मृत्यु का भय तो तज दिया हो, किन्तु मृत्यु की इच्छा करने वाला किसी दिन भी न हो। जिसकी मृत्यु के लिए तय्यारी तो हो, किन्तु मृत्यु की अपेक्षा जीवन अधिक महान् है—इस श्रद्धा से लेशमात्र भी जो विचलित न हो। जीवन का ज्ञान तो हो, किन्तु मृत्यु के रस के प्रति उदासी न हो।

❀

बहुत से मनुष्य ऐसा समझते हैं कि युक्ति करने की चतुराई में ही बुद्धि रहती है। सच्ची बात तो यह है कि अपनी युक्ति करने के लिए ही किन किन और युक्तियों में उतरना पड़ता है—यह जान लेने में ही बुद्धि रहती है।

❀

समर्पण यह जीवन का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट स्वरूप है। अतएव योद्धा लोग जिसके लिए लड़ते हैं, उसी के लिए सन्त देह समर्पित कर देते है।

❀

जिसने अपने काम की खोज की है और उसे प्राप्त कर लिया है, ऐसा समझा जाता है कि उसने विजय पा ली है और वह निर्भय और निश्चिन्त बन गया है। उसकी वह खोज खोटी हो, तो भी इसमें उसने कुछ गँवा दिया है, ऐसी बात नहीं है। कारण यह है कि महान सत्य भी अन्त में थोड़ा-बहुत खोटा होता ही है।

❀

मनुष्य को जब वह न्याय नहीं मिलता, जिसको उसने न्याय समझ लिया है, तब वह थोड़ा-या-बहुत अपने प्रतिपक्षी से अन्याय कर बैठता है। साधु पुरुष ऐसे समय में भी अपने प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से देखने का यत्न करता है और अन्याय नहीं करता; किन्तु अज्ञान कहां है, यह खोज निकालता है। इस प्रकार की अनेक शोधों के ज्ञानदीप से मार्ग को उज्ज्वल और तेजस्वी रखने में ही प्रयत्नों का सब सार है, शायद इसमें ही प्रयत्न का सच्चा रस भी है।

❀

महान् बनना है क्या?—यह रहा इसका रहस्यमन्त्र, जितना समय परनिन्दा में व्यतीत होता है, उतना यदि स्वत्व के विकास में व्यतीत हो तो महत्ता चरणों में लोटती आये।

❀

मनुष्य के नित्य जीवन में दिखाई देने वाला सामान्य विवेक—यदि अन्तर में से ही आता हो तो,—यह उसकी मानसिक क्रिया की प्रतिध्वनि बनकर उसको साधु-कोटि में रखने के लिए पर्याप्त है। विवेक के बहुत-से स्वरूप व्यवहार से नियमित बनते हैं। आन्तरिक विकास से शायद ही कोई नियमित बनता हो। इसलिए विवेक—यह छद्मवेष धारण किये हुए दम्भ ही है।

❀

तूफान के पहले और पीछे जैसे शान्ति स्वाभाविक होती है, वैसे ही, क्रियाशक्ति के आगे और पीछे मौन अनिवार्य है, नैसर्गिक है।

❀

प्रतिष्ठा ?—इसमें बहुत बार, आगे बढ़ते हुए भटक गये जीवन का शव ही नहीं दिखाई देता ?

❀

कठिनाइयाँ इसलिए आती हैं, जिससे मनुष्य जीवन को बढ़ सके। ये जीवन के मार्ग को रोकने के लिए हैं ही नहीं।

❀

मनुष्य जहाँ खड़ा हो वहाँ से उसे आगे जाने के लिए प्रेरित करने वाली प्रत्येक वस्तु—फिर चाहे भले ही वह भिखारी का गीत हो अथवा चित्रकार का वर्षों की मेहनत से तैयार किया हुआ चित्र हो—कला है। कला का स्वरूप इतना अधिक निश्चित और सामान्य होने पर भी, जो गूढ़ वातावरण इसके आसपास चारों ओर फैल जाता है, उसने ही इसे पदभ्रष्ट करके जीवन में से बाहर निकाल दिया है।

❀

बुद्धि—यह एक ऊँचे प्रकार का संयम है। भावना की विरोधी बुद्धि है, ऐसी परिस्थिति वास्तव में है ही नहीं। संयम से भी भरी हुई भावना—इसी को बुद्धि कहा जा सकता है।

❀

लोकैषणा—इसका मोह, यह वृद्धावस्था का चिन्ह है, अशक्ति की स्वीकृति है।

'हाय रे ! दुर्भाग्य !!'—मनुष्य बहुत बार ऐसा कहा करते हैं किन्तु कहना इस प्रकार चाहिये—'ओहो ! अनिपुणता !!'

❀

सुख ? सन्तोष से मिलता है—ऐसा बहुत से कहते हैं, और इसको मन की परिस्थिति का ही परिणाम मानते हैं। कई सारे तन-मन-धन तीनों के समान मेल के बिना इसे अशक्य समझते हैं। सच्ची बात यह है कि सुख एक प्रकार का आध्यात्मिक सामर्थ्य है और जिसके मन में किसी भी प्रकार की अदृश्य भावना पैदा ही नहीं होती, उसे यह सामर्थ्य भी नहीं प्राप्त होता।

❀

वाह रे ! युवक, तू भी कोई अजब निराशावादी लगता है !

प्रयत्न की सत्यता तेरे पार्श्व में खड़ी है, और फिर भी तू कहा करता है कि मेरे पार्श्व में कोई नहीं है, मेरे पार्श्व में कोई नहीं है। वाह !

❀

श्रद्धा उत्पन्न हुई है, ऐसा लगते ही तुरन्त काम शुरू कर दो; समय की अथवा साथी की राह मत देखो। उत्कृष्ट से उत्कृष्ट समय और उत्तम से उत्तम साथी—दोनों श्रद्धा में ही हैं।

❀

जीवन या परिस्थिति—इसके सामने छोटी से भी छोटी फरियाद पेश करने वाला, इसके विषय में सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

❀

जबतक मनुष्य अकेले अपने हाथ में अपनी भावना को दृढ़

रखने की तैयारी प्रकट नहीं करता, तब तक, उसकी भावना में तेज नहीं आता; अथवा विजय नहीं मिलती।

❀

जब तक मनुष्य ने एकाध पराजय सहन नहीं की, एकाध हार नहीं देखी, तब तक उसकी वास्तविक आयु इतनी ही होती है कि वह अपने आपको बालक समझे।

❀

युवकों के समझने की एक ही बात है। वे वृद्ध तो होते नहीं न? —अपने ही अनुभव में अत्यन्त आग्रह रखने वाले, अपनी ही सब बातों में गम्भीर मन्थन देखने वाले और अपनी ही शक्ति के ऊपर निर्भर रहकर अन्य सब शक्तियों की उपेक्षा करने वाले!

❀

स्वप्न सेवी बहुत हो चुके—शायद ही किसी ने इस विषय में पश्चात्ताप नहीं किया होगा? स्वप्न द्रष्टा भी बहुत हो चुके—पश्चात्ताप से नहीं तो पराजय से उन्होंने अपना मार्ग बदल लिया। स्वप्न-शिल्पी ही विरले थे—और उन्होंने ही दुनिया को बनाया है। जो स्वप्न गढ़ा उसी को पार उतार दिया।

❀

मनुष्य फरियाद जो नहीं करता—वह इसलिए कि या तो वह अत्यन्त आलसी होता है, अथवा इसलिए कि वह अत्यन्त उद्योगी होता है।

❀

श्रद्धा—यह अन्धा बल नहीं, अज्ञेय बेशक होगा।

रे ! उस संगीताचार्य को देखा ?—राष्ट्र को उसके संगीत की नहीं, उसके जीवन की आवश्यकता थी। उसके प्रत्येक पल की आवश्यकता थी और उसने उसे पूरा किया। जितना कुछ कर सकता था, किया। अपने पीछे आने वाले जवानों को सब कुछ सौंप दिया—संभालने के लिए और सरस बनाने के लिये। और अब आज फिर नब्बे वर्ष के बाद संगीत पर हाथ आजमाने बैठा है ! अरे ! पागल !

❀

धर्म का उपयोग है, और अनुपयोग भी है। उत्तरदायित्व, दुःख और हृदय का सन्ताप—इसे भूलने के लिये जब मनुष्य धर्म का आश्रय लेने जाता है, तब जो धर्म उसे प्राप्त होता है, वह ऐसा ही है जैसे शीशी में भरी हुई शराब। इसका इतना ही उपयोग कहा जा सकता है कि वह इसके नशे में बहुत कुछ भूल सकता है। किन्तु उत्तरदायित्व, दुःख या सन्ताप—इसे भूलने के लिए नहीं, किन्तु समझने के लिए जब मनुष्य धर्म की खोज करता है, तब जो कुछ इसे मिलता है, वह धर्म हो सकता है।

❀

श्रद्धा का एक अंश भी न रहने दे, इतना अधिक अनागतविधातृत्व—कदाचित् यह मनुष्य के 'अहम्' की ही प्रतिध्वनि होगी।

❀

अरे ! आज—बिलकुल अन्तिम घड़ी में—बहुत देर हो गई, तब यह पता लगा, व्यर्थ गँवाये हुए जीवन में एक एक करके यूँही बह जाने वाला प्रत्येक क्षण, एक एक खंजर जैसा बनकर हृदय को छेद रहा है।

पहले से यह पता लग जाता !

पहले से जीवन के इस प्रकार के क्षणों का सच्चा हिसाब रख सका होता !

उस समय ऐसा लगता था कि यह पल तो गया सो गया।

वह तो अनन्त काल में विलीन हो गया। इस विषय में अधिक विचार हो, इससे पहले अन्य अनेक क्षण आ पहुँचे—और वह क्षण भी चला गया।

किन्तु आज पता लगता है कि इस प्रकार गंवाए हुए हरेक क्षण में अदृश्य रीति से खंजर का घाव भरा है।

रे ! वह जाने वाले एक-एक क्षण ! और ऐसे ही अनेक क्षणों !

और थोड़ी देर बाद विषाद के अन्त में आशा की एक किरण अन्तर में उगती है।

'गिरे हुए पत्तों का खाद जिस प्रकार वृक्ष को नवयौवन देने के लिए है, उसी प्रकार वे गए क्षण जीवन को नव-रसायन देने के लिए हैं।

'उन पलों में से नई क्रम-रचना की—नव-मार्ग को खोज निकालने की—नव-विकास को प्राप्त करने की, सम्भावना है।

'और फिर बहे हुए पल भी वास्तव में तो तेरे ही हैं।'

'मुझे एकान्त चाहिए जिससे कि आज जीवन में मिलने वाली निराशा के ऊपर मैं जरा-सा विचार कर सकूं।'

❀

एक अट्टहास्य—निराशा को हजारों कोस दूर फेंक देने वाला अट्टहास्य—उसके द्वारा उसने ठक-से जवाब दिया—'विश्व की शृंखला में जहां भयंकर भूमिकम्प को—और अश्रोवर्षण जीवन जलराशि को स्थान है, वहां ऐसी एकाध मामूली निराशा के ऊपर विचार करना भी बुद्धि का द्रोह है !'

किसी भी कला की सच्ची विशेषता यह है कि उसमें कला कहां है, ऐसा स्पष्ट अंगुलि-निर्देश नहीं किया जा सकता। वातावरण में ओतप्रोत हुआ तुम्हारा मन उसमें सब जगह कला ही कला देखता है और ऐसा होने पर किसी एक अमुक स्थान पर ही नहीं देख सकता। इसी का नाम कला की अपार्थिव विजय है।

❀

दुनियां का महान् से महान् करुण आश्चर्य यह है मनुष्य जिसके लिए मरण-पर्यन्त प्रयत्न करता रहता है वह सुख और दुःख केवल काल्पनिक दर्शन ही है। और उसके लिए प्रयत्न-अप्रयत्न किसी चीज की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है तो केवल उसकी काल्पनिक रेखा को समझने की।

❀

व्यक्तिगत सुख-दुःख का मन्थन अथवा संवेदन, या तो मनुष्य को पामर बना देता है अथवा पागल बना देता है, या तो यान्त्रिक क्रिया से जीना सिखाता है, अथवा आर्षदृष्टि से देखना सिखाता है। पहले प्रकार में मनुष्य अमनुष्य बनता है। दूसरे में वह मानवेन्द्र बन जाता है।

❀

रे अन्धेरी रात्रि के तारो ! अपनी एकाध बात तो कहो।
गूंगे आते हो। गूंगे चले जाते हो। खड़े रहते हो, पर गूंगे।
अपने अन्तरंग की एकाध कथा तो कहो।
अपने जीवन की कोई झांकी तो दिखाओ।
इतना तो कहो, कि इस सृष्टि में किस किस को तुमने देखा है — किसने तुमको देखा है ?

भगवान् तथागत ने जब कपिलवस्तु का त्याग किया—तब तुम में से कौन महाभागी उस दृश्य को देखने के लिए खड़ा रहा था? कुछ तो कहो!

किसी ने जवाब दिया—'हमारा यह दुर्भाग्य है। और यह नित्य का है।

अंधेरी रात्रि में अपने सिवाय और किसी को प्रकाश न दे सकने की हमारी अशक्ति ही हमें मौन रहने के लिए बाधित कर रही है।'

अंधेरी रात्रि के तारो! तब तो तुमने भी विश्वक्रम के संकलन में कुछ कर जाने में ही जीवन को सार्थक गिना है क्या?

अशक्त देह की जीवनडोर को लम्बा करने की आशा—यह इसकी प्रत्यक्ष स्वीकृति है कि मनुष्य ने सम्पूर्ण जिन्दगी में एक पल भी वास्तविक जीवन-मर्म को जानने का प्रयत्न नहीं दिया।

❀

चित्रकार लाखों रंगों से रंगे हुए आकाश को चित्रित कर रहा था।

और उस शरारती नन्हें बालक ने उसके रंगों में पानी मिला दिया।

उसके मन को ऐसा लगा कि इतने अधिक रंगों का आकाश इतने कम रंग से किस प्रकार चित्रित होगा?

लाओ न थोड़ा पानी मिला दूं, जिससे कि झट चित्रित हो जावे।

फिर वह जोर से हँस पड़ा—'अब चित्रित होगा; अब चित्रित होगा!'

पर रंग आकाश में ही रहे। चित्रकार की तूलिका में से केवल-मात्र किंचित् जल ही टपकता रहा।

मानों चित्रकार को रंग लेने की सूचना देता हो, इस प्रकार वह बालक निर्दोष भाव से, अपनी खुली छाती पर के रंग का दाग बताकर बोला 'देखो, रंग यह रहा। तुम इसमें से लो!' और वह अकारण स्मित करता रहा।

किन्तु यह वाणी सुनते ही चित्रकार के हाथ में से तूलिका गिर पड़ी।

मानों उसके हाथ में मूकवाणी ने जन्म लिया था। 'बालक क्या कहता है? रंग कहां से लेना है? आकाश में से या हृदय में से?'

❀

क्षमा का अर्थ है वस्तुस्थिति को सम्पूर्ण रीति से समझने की शक्ति।

❀

महान् पल के समय में भी योग और ऋण करने वाले जीवन की अगाध गहराई को नाप ही नहीं सकते।

❀

जब तीन वस्तुएं चली जावें—आशा, भय और कामना—तब मनुष्य चाहे कुछ भी करे, उसका हरेक काम उसे और अधिकाधिक बलवान् बनाता है।

❀

हरेक पल का हिसाब करने वाला मनुष्य हरेक पाई का हिसाब करने वाले मनुष्य की अपेक्षा अधिक आगे है, दूसरे की वृत्ति में गुप्त जन्तुत्व रहता है, पहले की वृत्ति में गुप्त नरवीरत्व।

❀

महान् बनना है क्या? यह रहा इसका रहस्यमन्त्र। महान् बनने वाले हरेक दिवस का नहीं, हरेक पल का हिसाब रखने वाले होते हैं।

जिस प्रकार अंक के बिना शून्य की महत्ता नहीं है, उसी प्रकार बिना किसी ध्येय को स्वीकार किए, निर्लेप रहने के लिए, मन्थनशील अन्तःकरण की भी कोई महत्ता नहीं है।

❀

जीना सबको अच्छा लगता है; देखकर जीना किसी को अच्छा नहीं लगता। शायद बहुतों का साध्य भी नहीं।

❀

गुमनाम कलाकारों ने कला का यह एक रहस्य अपने आप गुमनाम रहकर बताया है।

❀

जिस कला में कलाकार अपने आपको भूल नहीं जाता, वह कला नहीं है। इस प्रकार अज्ञातनाम बने हुए कलाकार का पीछे नाम कहां रहा? वह प्रकृति की तरह सबके लिए जीता है और इसलिए नाम बिना जीता है।

जो संवेदन जीवन को सौन्दर्य दृष्टि से देखना सिखाता है, उसे कवि-वाणी में 'ऊर्मि' कहते हैं। सौन्दर्य का अर्थ सामर्थ्य नहीं—वाणी में से ऐसा अर्थ निकले तो वह ऊर्मिलता बन जाती है; सौंदर्य ही सामर्थ्य है—वाणी में से ऐसी ध्वनि निकले तो इस आर्षवाणी को प्रेरणा कहते हैं। ऊर्मि क्षणिक है, प्रेरणा स्थायी है।

❀

सत्य की सबसे महान् परीक्षा यह है कि उसे मानव-हृदय में प्रवेश करने का परिश्रम नहीं करना पड़ता।

जितनी सरलता से मनुष्य अपनी कनिष्ठ अँगुलि के फेर पर अंगूठा रख सकता है, उतनी ही सरलता से जो छाती ठोंक कर कह सकता है कि मुझे पृथ्वी पर से जाने में अभी देर है, तब समझो कि वह नरों में नरोत्तम बन गया है। मृत्यु है, यह मानना तो बहुतों के लिए शक्य है। मृत्यु है, यह जानना बहुत थोड़ों के लिए शक्य है। किन्तु मृत्यु के होते हुए भी 'मेरा मिशन' अभी पूरा नहीं हुआ, इसलिये मेरे लिये मृत्यु नहीं है, इस प्रकार श्रद्धा से कहना यह तो बहुत थोड़े विरल मनुष्यों के लिये ही शक्य है। पर यह विरलता ही बताती है कि मनुष्य की वीरता कितना उत्कृष्ट स्वरूप धारण कर सकती है।

❀

सिरजनहार का कविता करने को मन हुआ और उसने स्त्रीत्व की सृष्टि कर दी।

❀

अन्त में केवल एक सहानुभूति का शब्द—विवेक के लिये बोला हुआ नहीं, सहायता न कर सकने के पश्चात्ताप रूप में उच्चारण किया हुआ सहानुभूति का एक शब्द—हरेक दुःखी और दीन को इतनी आशा रखने का अधिकार है।

❀

किसी से अन्याय मत करो। शायद न्याय करने का अवसर तुमको जीवनभर में फिर दुबारा न मिले। फिर यह अन्याय भले ही एक कटु शब्द का हो, जमीन छीन लेने का हो, या कितना ही तुच्छ क्यों न हो, किन्तु तुम्हारे जीवन के लिए तो छोटा या बड़ा सब अन्याय समान हैं।

तू न्यायाधीश न बनना। यह काम एक अति समर्थ का ही है। न्यायाधीश बनते समय हृदय के एक गुप्त कोने को तूने जाँचा है?—यदि जाँचेगा, तो जान जावेगा कि तू भी न्याय नहीं चाहता। दया-क्षमा चाहता है। हरेक दोषी का दिल भी यही चाह रहा है।

❀

जिसने केवल बगीचा देखा, उसको ठूंठ की महत्ता समझ में नहीं आ सकती; अकेले सहन करने की और भी अविचल रहने की और फिर भी अविचल रहने की।

❀

जीवन का अन्त—इसमें मृत्यु नहीं है। प्रयत्न का अन्त—इसमें मृत्यु है।

❀

ईर्ष्या—यह अनिपुणता का ही एक प्रकार है।

लेखक के अन्तरंग में से जन्म लेने वाली काव्यमयी वाणी ऊर्मिलता नहीं है।

❀

चरित्र के बिना दूसरी कोई भी वस्तु शक्ति को चिरंजीवी तत्व दे ही नहीं सकती। चरित्र के बिना शक्ति सम्भव ही नहीं, दिखती भले हो। दिखना—यह वस्तु नहीं, वस्तु का आभास है।

❀

मैंने मात्र यह दृश्य न देखा होता?

मैं सुखी था। सन्तोषी था। सवेरे उठता, दुपहर को खाता, साँझ

को घूमता, रात को सो जाता। ऐसे ही ऐसे वर्ष चले गये। थोड़े, और चले जाते।

मैंने केवलमात्र यही दृश्य न देखा होता।

संन्ध्या निर्मल थी। आकाश निर्मल था। सागर शान्त और स्वच्छ था। उसका पानी नील निरभ्र आकाश की स्पर्धा करता हुआ धीमी लहरों से तान ले रहा था और वहाँ दूर-दूर क्षितिज पर एक छोटी-सी नाव आ रही थी।

छोटी-सी नाव तरंगों पर डोल रही थी।

और उसमें वह मछियारा और उसकी पत्नी जीवन-संग्राम से वापिस लौट रहे थे।

यह दृश्य मैंने न देखा होता।

वह छोटी-सी नाव—समुद्र—प्रकृति और मछियारा—ये सब के सब एक सुन्दर चित्र-निर्माण में कैसे सच्चे स्वरूप में आ सकते थे—ऐसे थे।

और हम—नदीतट के सैलानी!

❀

जहाँ-जहाँ इतिहास ने ऐसा लिखा है कि 'शक्ति अद्भुत थी', वहाँ-वहाँ ऐसे लिखाता हो। 'और इसका ऐच्छिक त्याग भी अद्भुत था।'

❀

समाज के भयंकर मनुष्य! समाज के भयंकर बन्धन!! यह सब खाली कोलाहल है। अपने भयंकर विचार और अपने बन्धनों के विषय में विचार करने वाला समाज की दुर्व्यवस्था में अपने ही विचार की प्रतिध्वनि देखेगा। और उस ध्वनि के सुधरते ही उत्तर मिल ही जायगा।

❀

बहुत मनुष्य बहुत बार ऐसा मानते हैं कि बहुत साधनों में बहुत

सुख रहता है। किन्तु साधनों का उपयोग न जानने वाले के लिए इसके जैसा दूसरा बन्धन भी नहीं है।

❀

सुख और दुःख असर न करें, यह स्थिति मनुष्य जड़त्व का अभ्यास करके भी प्राप्त कर सकता है। इन दोनों स्थितियों से परे रहने के प्रयत्न का सच्चा रहस्य यह है कि जिस ध्येय को मनुष्य ने स्वीकार किया है, उसमें आने वाले सुख अथवा दुःख से वह विचलित न होवे, तो उसमें ध्येय-प्राप्ति के लिए नया सामर्थ्य आ जाता है। किसी भी प्रकार के ध्येय के बिना, केवल सुख अथवा दुःख से विचलित न होना, इसमें कोई खास आन्तरिक विकास नहीं है, शारीरिक व्यायाम अवश्य हो सकता है। बहुत सारे वृक्ष और पर्वत शायद ही कभी चलायमान होते हों। यह जड़त्व की अधिक से अधिक निशानी हो सकती है कि मनुष्य को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते, किन्तु किसी महाध्येय के लिए जब मनुष्य इस अवस्था का अभ्यास करता है, प्रयत्नपूर्वक इसे प्राप्त करता है—तब ही उस अवस्था में अर्थ मिलता है और उसमें रहने वाला नया दर्शन और अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है।

❀

वह गरीबी—कड़कती सर्दी में नंगे शरीर पड़ी रहने वाली, टुकड़े बीन-बीन कर जीवन व्यतीत करने वाली, जूठन पर निर्वाह करने वाली—इतनी भयंकर नहीं है, इतनी हानिप्रद भी नहीं है, जितनी विचार की गरीबी है। यह दूसरे प्रकार की गरीबी बाहर के साधनों में से पैदा होने वाली नहीं, किन्तु अन्दर के रोग से पैदा होने वाली है। इसको तुम मोहक गरीबी कह सकते हो। पहले प्रकार की गरीबी में भी गरीब उस से छूटने की इच्छा रखता है, दूसरे प्रकार में वह

गरीबी ही उसका मोह है। इसमें से उसे छूटने की इच्छा ही नहीं। यह गरीबी—विचार की गरीबी—भयंकर है।

❀

मुझे तो इसमें रहने वाली महान करुणता ने बारम्बार सचेत किया है।

जीवन में करुणता अनेक प्रकार की होती है। अनाथ के आँसू की, अज्ञान के रुदन की, ज्ञान के पतन की, आदर्श से विचलित होने की, स्वप्न-द्रष्टा के स्वप्नभंग की—एवं और अनेक।

किन्तु सब से महान करुणता तो इस परिस्थिति में है :

मानव-देह होवे, श्रेष्ठ साधन होवें, और विचार की दारिद्रता होवे।

विचार-हीन अवस्था—यह मनुष्य-जीवन की सब से अधिक भयंकर करुण अवस्था है।

इसमें जागृति को अवकाश नहीं, महात्वाकांक्षा को स्थान नहीं, प्रयत्न करने की इच्छा भी नहीं।

अपने विचार-दरिद्रता में स्वयमेव मग्न रहना—मनुष्यत्व का यह अन्तिम से अन्तिम रूप हो सकता है।

मुझे तो जीवन में इसकी अपेक्षा अधिक करुण प्रसंग दूसरा लगा ही नहीं। साधन तो हों और सिद्धान्त न हों, पैसा तो हो और विचार न हों, समृद्धि तो हो और कल्पना न हो।

श्रेयस् और प्रेयस् का महाप्रश्न यह भी एक प्रकार से क्या यही प्रश्न नहीं है ?

विचार अथवा विवेक न हो, तो समृद्धि ही मनुष्य को कितना निर्बल बना सकती है ?

और इस निर्बलता की करुणाजनक दशा के मुकाबले में दूसरी करुण दशाओं को तो आनन्दरूप कहा जा सकता है।

❀

जीवन के किसी भी प्रश्न के लिए, किसी भी प्रश्न की सचाई को सुलझाने के लिए—मनुष्य की अपने आप को मिटा देने की तय्यारी न हो, तो बेहतर है कि वह प्रश्न को छेड़े ही नहीं। प्रश्न को न छेड़ने में कोई अपनी हतक नहीं, किन्तु छेड़ने के बाद उस प्रश्न को न सुलझा सकने में मनुष्यत्व की स्पष्ट हार है। और इस हार का नाम ही मृत्यु है। सुकरात और गेलिलिओ ने प्रश्न न छेड़ा होता तो कोई बाधा नहीं थी। किन्तु प्रश्न उठा देने के बाद तो इसकी कीमत चुका देने पर ही छुटकारा होता है। और जीवन के महाप्रश्न की कीमत बहुत बार मृत्यु से लेशमात्र भी ओछी नहीं आँकी जाती।

❀

सद्गुण के स्वरूप को समझने की जितनी आवश्यकता है, उसकी अपेक्षा भी अधिक आवश्यकता दुर्गुण के अभ्यास की है। बहुत बार मनुष्य को अपने में किसी दुर्गुण के अस्तित्व का ख्याल भी नहीं होता और उसी एक दुर्गुण के कारण ही उसका संसार-चक्र विषमरीति से चल रहा होता है।

❀

तभी मुझे लगा था कि अरे रे! इस बिचारे पुरुष का तो अपना जीवन ही नहीं रहा।

वह उठता है, तो खिदमतगार उपस्थित होते हैं; खड़ा होता है, तो 'जी हजूर' उपस्थित होते हैं; बैठता है, तो सेक्रेटरी उपस्थित होता है; वह हिलता है, तो हथियार बन्द सिपाही उपस्थित होते हैं; वह बोलता है, तो वहाँ बहुरूपिया खड़ा होता है।

वह किसी दिन अकेला नहीं। उसे दिन के उगने की खबर नहीं। दिन छिप जाने का भान नहीं।

उसके जीवन की अन्तिम घड़ी आवेगी, तो तभी पता लगेगा कि यह दुनिया तो छोड़नी ही पड़ेगी।

कोई इस से बात नहीं करता कि मृत्यु जैसी भी कोई चीज है; कोई इससे बात नहीं करता कि जीवन जीने के लिए है; कोई इसे सुझाता नहीं कि साधनों का उपयोग हो सकता है।

जीवन की ऐसी अनाथ करुणता में बहते हुए आदमियों को लोग 'राजा' कह कर किस लिए उनका उपहास करते हैं ?

❀

जल के प्रपात को देखने के बाद मुझे मानव-जीवन की शक्यताओं के विषय में शंका नहीं रही, और अनन्तता के विषय में अश्रद्धा नहीं रही।

❀

चाहे वह छोटे से छोटा हो, किन्तु कोई भी सुन्दर विचार जब जीवन में उतरता है तो उसमें जीवन का रहस्य बताने का सामर्थ्य आ जाता है। उसमें से ही मार्गदर्शनरूप होने का तेज प्रकट होता है। भक्तजन इसे ईश्वरी कृपा कहते हैं, कवि लोग क्रान्तदर्शन गिनते हैं, ज्ञानी तिमिर-छेदन मानते हैं। आगे बढ़ने की लेशमात्र भी इच्छा करने वाले को सहायरूप होने के लिए, स्वयंनिर्मित अदृश्य भी अद्भुत सत्य, विश्वक्रम में नित्य उपस्थित होता रहता है। यही वेद का कृत है। यही पुराण का अवतार है। यही इतिहास का तत्वज्ञान है। इसी को जीवन में 'अकस्मात्' कह देते हैं।

❀

न्याय ?—हाँ हाँ, यह केवलमात्र दो मनुष्यों के पास है। संन्यासी-साधु के पास। पागल-प्रेमी के पास।

❀

जीर्ण होने वाला सत्य नहीं हो सकता, सत्य का आभास हो सकता है। सत्य में से सौन्दर्य की तरह नित्य-नित्य नवीन अर्थ निकलते हैं और उसमें युगों को भी गढ़ने की और अपने पीछे चलाने की शक्ति होती है।

❀

परम सत्य के उपासको! नामोनिशान से मिट जाने वाली तुम्हारी आकांक्षा (तमन्ना) ही तुम को प्रेरित करेगी; अन्य किसी मार्ग की आशा न रखो; या अपने मार्ग की शंका न करो।

❀

सन्ध्या को देख कर जीवन का अन्तभाग मेरी नजर में चढ़ जाता है; क्या यह भी वैसा ही उदास, आधा अँधेरे से घिरा हुआ, एकांकी और झटपट बह जाने वाला होगा?—सान्ध्यरंगों में छिपा हुआ वह चित्र-दर्शन—इस जीवन के पलों को गिनते हुए—कितना हृदय-विदारक लगता है! क्या वस्तु सुन्दर होती है? और जितनी अधिक सुन्दर होती है, उतनी ही अधिक क्या करुण बनने के लिए होती है?

❀

पर दोष की चर्चा दाद की तरह है। जितना-जितना खुजाओ उतना-उतना ही स्वाद आता जाता है, और जितना अधिक रस आता है, उतना ही विकृत बनता जाता है।

❀

सस्ते बने हुए शब्द, सस्ते बने हुए सिक्कों की तरह, मनुष्य को व्यवहार में स्वच्छन्दी बना देते हैं; कार्यशक्ति में गरीब।

❀

चतुराई ?—यह एक ऐसा खंजर है, जो यौवन का नाश करता है और असामान्य को सामान्य बनाता है। यह यदि अपने को मिल जावे तो अपने को तरा देता है, किसी दूसरे को मिल जावे तो लेने वाले और देने वाले—दोनों को ही डुबा मारता है।

❀

जो क्रिया, काम के अन्त में मनुष्य को थका देती है—वह काम और उस तरह से काम करने की रीति-पद्धति जबतक यह नष्ट नहीं हो जाते, तबतक मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिकाधिक निर्बल होता जायगा। इतनी क्रियाशक्ति में भावना सम्भव नहीं है, ऐसा मानने वाला भावना और क्रिया में हजारों मीलों का अन्तर समझने वाला है।

❀

साम्राज्य तीर-बन्दूक-तोप से उतना नहीं डरते, जितना विचार करके विचार को स्वीकार करने वाले नवयुवकों से डरते हैं। उनको पता है कि समर्पण धर्म को समझने वाले एकाध मस्त नौजवान की भटकती हड्डियों में—अनेक तोप के गोलों की अपेक्षा अधिक आग भरी होती है।

❀

मांगकर खाने में जितनी लाज आती है, उतनी ही लाज शक्ति होते हुए पुस्तक मांगने में मनुष्य को आनी चाहिए—अपने आनन्द-वैभव में जो प्रजा पुस्तक और पुस्तकालयों का समावेश करती है, वह प्रजा किसी दिन ज्ञान की सच्ची पिपासा को धारण करने वाली बन जाती है। वास्तव में तो, जो स्थान घर की सजावट में दर्पण को प्राप्त है, वही स्थान पुस्तक को मिलना चाहिये।

❀

टीकायें ?—इससे अधिक और सस्ता दुनिया में क्या है ?—और इससे अधिक तीक्ष्ण भी दुनियां में क्या है ?—और अत्यन्त ओछे-से ओछा असर करने वाला भी इसके जैसा और दूसरा क्या है ?

❀

समाचार पत्रों को तुम व्यसन के रूप में स्वीकार करो या विचार प्रेरक बल के रूप में—इस बात के ऊपर तुम्हारा और उनका तुम्हारे जीवन के साथ सम्बन्ध हो जायगा। व्यसन के रूप में स्वीकार की हुई वस्तु किसी को कुछ भी नहीं दे सकती। वह क्रिया-बल को खींच लेती है। विचार-बल को अटका देती है। ज्ञान-बल को रोक देती है।

❀

हमारी असली गरीबी यह है : अपने से अन्य को सुधारने के लिए खूब प्रयत्न करते हैं; अपने आपको सुधारने के लिए थोड़े-से-थोड़ा।

❀

नीति-सत्य-सौन्दर्य-धर्म—इन सब शब्दों में निवास करने वाला कालातीत अर्थ—'ये सब मनुष्यता के लिये है'—यह एक ही है। काल-मर्यादा से इसके अनेक रूप भले ही दिखते हों। और इस कालातीत अर्थ को शोध निकालने में ही जीवन की कला निवास करती है।

❀

कई मनुष्य इतने अधिक अशक्त होते हैं कि छोटी-से-छोटी बात को भी क्षमा कर देना उनकी शक्ति के बाहर होता है।

❀

विचार और भावना क्रियाशक्ति का बीज है, ऐसा मानने के बदले

भावना और क्रियाशक्ति दोनों अलग अलग बल हैं, ऐसा मानने से, मनुष्य दोनों में से एक को भी वास्तविक रीति से नहीं समझ सकता। भावना के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए क्रिया अनिवार्य है। क्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए भावना अनिवार्य है।

❀

टीकायें—बहुत बार तो निर्दिष्ट मनुष्य के शब्दों में क्या शक्ति है, यह प्रकट करने के बदले, टीकाकार की अपनी मर्यादा प्रकट कर देती हैं।

❀

समाज की अपूर्णता के विषय में नहीं, किन्तु अपनी अपूर्णता के विषय में विचार करने वाला मनुष्य किसी दिन समाज की अपूर्णता को दूर करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है; सचमुच !

❀

मात्र प्रकृति पुरुषत्व या स्त्रीत्व दोनों में से एक की भी सूचक नहीं। अन्दर रहने वाला सत्व ही आकार को अर्थ देता है। अर्थ के बिना केवल आकार ऐसे ही गिनना चाहिये, जैसे देही के बिना देह।

❀

जीवन की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर लगे, ऐसी असामान्य मृत्यु प्राप्त करने के लिए मनुष्य को मृत्यु की कितनी अधिक सच्ची पहचान कर लेनी होती है ?

❀

मनुष्य के विषय में दो प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझने चाहिए, क्या करना इसके लिए शक्य है—और यह क्या करता है ?

शक्यता और सिद्धि—इन दो शब्दों के बीच में लाखों मनुष्यों के छिन्न-भिन्न हुए शव पड़े हैं। शक्यता को वरण करने वाले असंख्य —और सिद्धि पाने वाले बहुत ही अल्पसंख्य! संसार का सौन्दर्य और करुणता इसी में दोनों हैं।

❀

विज्ञान की सूक्ष्म से सूक्ष्म खोज को भी सौ टके के सोने की टंकार जैसा जवाब जो दे सके, वह मनुष्य अपने को तत्वज्ञानी, दार्शनिक या धर्मात्मा कुछ भी गिने; इसमें दोनों की सच्ची महत्ता है —विज्ञान की और तत्वज्ञान की।

❀

यह एक कूट प्रश्न है—त्याग के द्वारा शक्ति आती है या शक्ति हो, तभी त्याग आता है?

❀

भगवान् तथागत ने सामान्य मनुष्य में निवास करने वाली महत्ता को पहचानने का सन्देश दिया। किन्तु असामान्य तथागत में रहने वाली महत्ता को पूजने वाले सामान्य मनुष्य को भूल गये। हर कोई धर्म में सन्देश को भूल जाता है और व्यक्ति को पूजता है—तब उसमें से प्राण निकल जाते हैं।

❀

प्रेम की कठिन से कठिन कसौटी यह है: भले ही झंझावात आये, पर उसमें भी उसकी आस्था विचलित नहीं होती; विकार को प्राप्त नहीं होती; उसी प्रकार उसमें से भी पार उतरने की आशा मरने नहीं पाती।

❀

असन्तुष्ट दम्पती—इस परिस्थिति में मनुष्य जाति के बड़े से बड़े द्रोह को देखने के बदले, बहुत से लोग लूट-खून-चोरी में इस द्रोह को देखते हैं। जिस प्रकार देर तक चलने वाले और महँगे न्याय का बालक, रिश्वत होता है; उसी प्रकार असन्तुष्ट और बिना जाने-पहचाने अनमेल विवाह के ये सारे बालक हैं। परन्तु मनुष्य को फल को देखने की और बीज की उपेक्षा करने की आदत है।

❀

वास्तविक और काल्पनिक—कला के नाम पर प्रकट किये जाने वाले ये दोनों भेद जिस एक अभेद रेखा पर मिलते हैं, वहाँ कला है। केवल वास्तविक जैसी चीज दुनिया में कोई नहीं। वास्तविक दर्शन का अन्तस् देखने के लिए कला का उपयोग है। काल्पनिक दर्शन को पृथ्वी पर उतारने के लिए वास्तविक परिस्थिति अनिवार्य है। केवल लघु कला के—लघु आदमियों के ताने बाने में, दोनों में से एक का ही महत्व स्वीकार किया हुआ लगता है। ऐसी लघुकला—क्या तो अपने जमाने का हूबहू चित्र खींचकर अपने जमाने में ही मरण प्राप्त करती है, अथवा किसी भी जमाने में सम्मान नहीं प्राप्त करती।

❀

रे! पतझड़ ऋतु तो आ ही पहुँची और हरेभरे वृक्ष, ठूँठ जैसे बनकर खड़े रह गये।

पत्ते को गिरता देखकर, जीवन क्षणिक है—इस विचार से मन व्यग्र नहीं बना, किन्तु पत्ते का अन्त जिस प्रकार उपयोग के लिए है, उसी प्रकार इस जीवन का भी किसी हेतु के लिये अन्त होगा!

❀

दुष्ट लाभ लेने की इच्छा मनुष्य को स्वावलम्बी होने के लिए

अधिक से अधिक निर्बल बना देती है। मेरी बारी आयगी, तब टिकट लूँगा—ऐसा मन में सोचकर खड़ा होने वाला जंगली ग्रामीण; और टिकिट मास्टर की भूख जैसी परिचिति का लाभ लेकर 'क्यों साहेब !' कहकर टिकिट लेने के लिए अन्दर दौड़ता हुआ जंगली शहरी—निकम्मे लगते हुए इन दोनों दृष्टान्तों में वास्तव में हृदय का एक अदृश्य कोना काम कर रहा है। फिर तीसरी ऐसी भी स्थिति होती है कि अज्ञानता के कारण ग्रामीण इस प्रकार खड़ा हो। तो यह स्थिति उन दोनों स्थितियों की अपेक्षा अधिक शोचनीय है।

❀

कई सुन्दर चेहरे ऐसे होते हैं कि उनको देखने की अपेक्षा न देखने में ही अधिक असंस्कारिता है—यह प्रतीत होता है। देखने की अपेक्षा न देखने में ही अधिक जड़ता दिखाई देती है, और अधिक नैतिक पतन भी।

❀

अरे ! बचपन गँवाने के बाद एक सच्चे आँसू के लिये, एक सच्चे विचार के लिए, केवलमात्र एक सच्ची कल्पना के लिये—मैं कितना कितना भटका हूं ! मैंने कितना कितना मन्थन किया है !

❀

भावना से रंगी हुई नहीं, बुद्धिवाद से कुण्ठित नहीं, स्वार्थ से प्रेरित नहीं, या आवेग से निकलने वाली नहीं—ऐसी सुन्दर वाणी—जीवन के विषय में जिसने अधिक से अधिक चिन्तन किया हो, ऐसे ही पुरुष के पास से प्राप्त हो सकती है। यह वाणी इतनी सूत्रात्मक होती है कि इसको लगभग मौन-वाणी ही कहा जा सकता है; और ऐसा होने पर भी कुछ कहने को रह नहीं जाता।

❀

फूल को भूल जाने वाली प्रजा, कविता को तज देने वाली प्रजा की तरह बहुत थोड़े समय में जंगली बन जाती है—सामर्थ्य या शक्ति की दृष्टि से नहीं, अपने मन के निर्माण की दृष्टि से। ऐसी प्रजा—बहुत भयंकर बात है किन्तु शक्य है—कि समय पर माता के द्वारा बचपन में की हुई परवरिश को रुपया-आना-पाई से तोल बैठे, तो आश्चर्य नहीं।

❀

गँवाये हुए क्षण, और जिनको क्रिया में लाने का प्रयत्न नहीं किया गया, ऐसे शुद्ध विचार,—ये दोनों जीवन को ऐसी रीति से नीचे और नीचे ले जाते हैं कि वह समझ में नहीं आ सकती।

❀

जो पहने हुए ही वस्त्रों से आह्वान होते ही युद्धभूमि की तरफ चल निकलता है, और जो पहने हुए ही वस्त्रों से शब्द सुनते ही त्यागभूमि के प्रति प्रयाण कर देता है, ये योद्धा और योगी—सैनिक और सन्यासी क्रियाशक्ति की इतनी अधिक पृथकता होते हुए भी दोनों एक ही मानस की सुन्दर प्रतिच्छाया हैं! मैंने विश्व को रमणीय माना है—इसके बहुत से कारणों में से एक कारण यह भी है कि इसके आन्तरिक व्यवहार का हरेक मार्ग, यदि वह सच्चा हो तो, एक ही ध्येय की ओर ले जाता है।

❀

कवि की वाणी में दिखने वाली अतिशयोक्ति—कई बार वह काल्पनिक सौन्दर्य को देखने के लिए अधीर प्रयत्न भी हो सकती है! रहस्य जानने के लिये, ऐसी वाणी के पीछे जाना चाहिये।

❀

कई मनुष्य जीवनभर बालक जैसे रहते हैं—वैसे निर्दोष नहीं,

वैसे सच्चे नहीं, वैसे नकली! बड़ी आयु के मनुष्यों को ऐसी बड़ी आयु के बच्चों जैसा देखना—इसमें हास्य और करुण दोनों रहते हैं।

❀

विचार को व्यवहार में ढालने का साहस हो, और ऐसे साहस से मनुष्य डरता हो तो—उसने अपने आप विचार किया है, ऐसा नहीं कहा जाता सकता।

❀

आराम के पलों के दुरुपयोग से जगत् में कितनी करुणता प्रसृत हो रही है, यदि मनुष्य यह जान जावे, तो उसी क्षण उसके जीवन में अनेक नए अर्थ आकर मिलें—और अनेक नए सत्य प्राप्त हों।

❀

दूसरे क्या करते हैं—जब यह युक्ति नाश को प्राप्त होती है, तब मुझे क्या करना चाहिए—यह ज्ञान उदित होता है।

❀

मैंने किसी भी दिन ऐसी इच्छा नहीं की कि मुझे ऐसा आलसी वैभव मिल जावे, जिससे कल की आवश्यकताओं की चिन्ता न रहे।

उसी प्रकार मैंने ऐसी गरीबी की भी इच्छा नहीं की कि हर रोज की आवश्यकताओं की चिन्ता, चिन्तन और आराम का समय भी न रहने दे।

मैंने तो इतनी ही इच्छा की थी कि अनेक कठिनाइयों से भरे हुए जीवन में भी फूल की सुन्दरता देख सकने की शक्ति स्थिर रहे, किसी वृक्ष की शीतल छाया के नीचे एकाध काव्य बाँचने की रसवृत्ति रहा

करे, किसी चाँदनी रात में जल की तरंगों को देखने की आन्तरवृत्ति जाग्रत रहे।

और एक भयंकर क्रूर उपहास से भरे हुए उच्च हास्य से जवाब मिलता है—जिस जीवन-संग्राम को तू देखता है, वह और जिस चांदनी कमल और रजनी को देखता है वह, इन दोनों के बीच की सर्व-सामान्य संस्कृति के सम्बन्ध को जबतक तू ढूंढ न सके; तबतक दुनियां को आराम नहीं मिलेगा। जिस आलसी वैभव और जिस हड्डियों को जमा देने वाली गरीबी को तू नहीं चाहता, इन दोनों के बीच की अवस्था जबतक सबकी अवस्था न हो जावे, तबतक तेरी उपेक्षा तुझे आनन्द नहीं देगी। हड्डियों को जमा देने वाली गरीबी के द्वारा प्राप्त की हुई शराब इसको आनन्द प्रदान नहीं कर सकती। उपेक्षा से किसी को शान्ति मिली ही नहीं। मिल सकती भी नहीं। उपेक्षा के बिना रास्ता खोजना होगा। आवेग के बिना मार्ग प्राप्त करना होगा। वर्ग-विग्रह के बिना इसको ढूंढना होगा। इसके बिना जो भी कुछ तू करेगा, उसमें एक मूक आर्त वेदना उपस्थित रहेगी—'किन्तु—हम—हम—हमारा क्या ?' ऐसी।

❀

कई सारे मनुष्य वैभव से भड़कते हैं, मानों कि इसमें सब कुछ पाप ही पाप हो। अधिक-से-अधिक मितव्ययिता से उपयोग करने के लिये जो मनुष्य वैभवशाली बनता है, उसे सामाजिक शक्ति के रूप में समझना चाहिए। जिसको दूसरे ने विलास में गँवा दिया होता—उसको चातुर्य से अपने पास लाकर, इसने उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया है। इसलिए भगवान् तथागत ने कहा है—कुछ भी पास न रखने वाला भिक्षु हजारों अनुपयोगी चीजों का भार वहन करता हो, और सम्भव है कि हजारों चीजों का संग्रह करने वाला गृहस्थ कुछ भी पास न रखता हो। भिक्षु की अपेक्षा उस गृहस्थ का त्याग श्रेष्ठ समझना चाहिए।

मध्ययुग के शूर वीरो ! तुम्हारी उन्मत्त शूरवीरता के ऊपर हमें टीका-टिप्पणी करने का अधिकार है। हमें—कारण कि हमारे में शूर-वीरता, भली या बुरी, किसी भी तरह की नहीं रही, इसलिए !

❀

अनेक वेदनायें—अनेक व्याधियां—अनेक चिन्तायें—अनेक कठिनाइयां व्यर्थ थीं, केवलमात्र मानसिक थीं—कि पीछे से विचार करते हुए यदि किसी दिन तुम्हें ऐसा प्रतीत हुआ हो, तो वर्तमान परिस्थिति भी वैसा ही स्वप्न है यह सोचकर आगे बढ़ो।

❀

कौन अधिक सच्चा देखता है ? जलबिन्दु में जलबिन्दु को देखने वाला, या उसमें गुप्त रहने वाले महानद की ध्वनि सुनने वाला ?

पल-पल की अवगणना करने वाला महाकाल में रहने वाली चेतनाशक्ति को भला कहीं भी पा सकता है ?

❀

सारंगी में से जब मधुर से मधुर स्वर निकल रहा हो, तब उस स्वर में मुग्ध बनने वाले हे संगीतकार ! तू तार की उपेक्षा न करना। जिस समय शरीर अधिक-से-अधिक काम देता हो, उस समय ही उसके अन्तिम बिन्दु के ऊपर लक्ष्य लगाना उचित है। इस प्रकार गढ़े हुए शरीर को अधिक-से-अधिक सुरक्षित रखकर उसे अधिक-से-अधिक शुद्ध कार्य लेने के योग्य बनाने में जो ऊँचे प्रकार मनुष्यत्व रहता है, उस मनुष्यत्व के पास वासना से विमुक्त निर्मल पुरुष भी नतमस्तक होकर खड़े रहते हैं।

❀

मृत्यु के विषय में लापरवाही—इसमें ऐसी सामर्थ्य रहती है कि

समझ में नहीं आ सकती। इस प्रकार की लापरवाही से मृत्यु को रोक देने वालों की नामावली यदि प्रकट हो जावे, तो उसमें से एक रहस्य निकल आवे—कदाचित् पुराने से पुराना होते हुए भी गुप्त-से-गुप्त, और इसलिए नये से नया : 'मरने की इच्छा न करने वाले बहुत बार नहीं मरते।'

❀

प्रेम और ज्ञान दोनों ही एक हैं। एक के बिना दूसरा सम्भव नहीं। एक में जितनी शुद्धि है, उतनी ही दूसरे में शक्ति है।

❀

दुनियां में सच्चे या झूठे घाव को भूलने के लिये मैं जिस तरफ बढ़ता हूँ—वह माता की गोद होती है, बचपन का घर होता है, अथवा सुन्दर कविता होती है।

बहुत सारे सभ्य कहते हैं कि यह तुम्हारा व्यसन है—यह तुम्हारा नशा है—यह तुम्हारी बुद्धि की निर्बलता है—भावना का उन्माद है—पागल मन की मौज है।

इसका जवाब जब मैं भाषा से नहीं दे पाता, तो मौन से देता हूँ।

यह मौन भी बौद्धिक निर्बलता का प्रमाण है, यह सोचकर सभ्य मनुष्य हँसते हैं।

कई सारे प्रश्न व्यक्ति के अन्तरंग जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं, और किसी भी कसौटी से परे होते हैं—इतना सादा सत्य हम कब समझेंगे ?

❀

बुद्धि के—युक्ति करने की योग्यता के—प्रति आधुनिक समाज इतनी गहरी श्रद्धा रखने वाला बन गया है कि शायद थोड़े समय बाद, भावना—भावना का चाहे कोई प्रकार हो—जंगलीपन समझा जाये

तो कोई आश्चर्य नहीं। अब जितनी सरलता से दो चोर, दो जुआरी, दो गड़रिये, दो किसान, या दो मजदूर मिल सकते हैं, उतने उल्लास और ऊष्मा से दो व्यापारी, दो मास्टर, दो वकील, दो लेखक या दो डाक्टर नहीं मिल सकते। इस उपरोक्त वर्ग की बुद्धि का विकास—युक्ति करने का स्वभाव, युक्ति का खण्डन करने की वाचालता, युक्ति ही सत्य है, यह मानने की शक्ति—ये सब बढ़ गये हैं। यहाँ तक कि इस शक्ति के विकास में ही जीवन बल है, ऐसी मान्यता दृढ़ हो गई है। इसके परिणामस्वरूप, बुद्धि समग्र जीवन का एक अंश मात्र है और इसका जीवन में स्थान है, यह मानने के बदले बुद्धि ही जीवन है—ऐसा मानने वाले वृद्धि को प्राप्त हो गये हैं। मैं भावना के विषय में या हृदय के विषय में कहूँ, तो वहाँ कितना गहरा पानी है, यह मुझे ध्यान है। वैसे ही 'रे ! रे !!' इस प्रकार कविता लिखने का ही नाम जीवन में भावना की बुनावट है—ऐसा भी मैं नहीं कहना चाहता। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह इतना ही, कि यदि हरेक मनुष्य होशियारी से जीवन बिताने की प्रतिज्ञा ले बैठे, हरेक मनुष्य बुद्धि में न उतरे और हरेक बात करने को मना कर दे, तो जीवन व्यवहार बहुत ही स्वल्प काल में इतना कटु, शुष्क, शंकापूर्ण, हठीला और केवल तर्कमय बन जाय कि इस संसार में जीवन अशक्य ही बन जाये। और क्या ? महान् युद्धों में दोनों पक्ष हमेशा गलतफहमी को ही अग्र स्थान देते हैं। अंग्रेजी शिक्षा ने हमें जितने शब्द दिये हैं, उन सबमें गलतफहमी जैसा एक भी शिक्षित वर्ग को अनुकूल नहीं बैठा। इस शब्द की दीवार के पीछे अपनी हजारों निर्बलताओं को छिपाया जा सकता है। इस शब्द के जाल के द्वारा, अपनी जान में तो कोई काम करना चाहता है किन्तु कर्तव्य ही वैसा करने से रोकता है—ऐसा असर फैलाया जा सकता है। यह गलतफहमी शब्द अमर बन गया। 'नासमझ' शब्द भी बुद्धिवादियों ने अपनी समझ के लिए खोज निकाला है। इस स्थान पर बुद्धि शब्द-युक्ति के लिए युक्ति करने की

वृत्ति का—लगभग कलह का ही सूचक है, यह भूलना नहीं।

❀

हमें एकमात्र शुद्ध सत्य के प्रति इतना आदर नहीं, जितना उसके दिखावे के प्रति है। केवल सत्य इतना प्रिय भी नहीं, जितना चतुर झूठ प्रिय है।

❀

देश के आभूषण जैसी तरुणियाँ अनाथ विधवाओं की तरह धक्के खाती हों, सुकुमार फूल जैसे बालकों को हरेक ऋतु-परिवर्तन के साथ रुदनमय हृदय से मातायें पृथ्वी को सौंप देती हों—और वहाँ फिर तरुण युवक विलास के लिए समय निकाल सकते हों·····अथवा समाज व्यवस्थित है, यह सोचकर शान्तिपूर्वक व्यवहार चलता हो—यह वस्तुस्थिति मुर्दों जैसी शान्ति बताती है। और जाग्रत हुए मुर्दों से समाज को जितना आघात लगता है, उतना ही आघात तब लगता है, जबकि वह शान्ति अशान्ति का रूप धारण कर लेती है।

❀

जब एकाध भूला-भटका खड़ा हुआ कोई मनुष्य दूर—बहुत दूर के किसी कोने में से विचार की समृद्धि प्रकट करता है, तब अत्यन्त आनन्द होता है न!—कि अभी तो दीप जल रहा है!

❀

संसार न होता तो संयमधर्म की शिक्षा लेने के लिए मनुष्य कौनसा विद्यापीठ खोजता? और संयमधर्म की शिक्षा देने वाले इस विद्यापीठ को छोड़कर संयम सीखने जाते हुए बहुत सारे लोग, असंयम प्राप्त करके नित्य की अग्नि से दग्ध नहीं हुए?

❀

शब्द विचार जितना ही अमर है, यह जानने के बाद मनुष्य को अपने आप को मिला हुआ वाणी का वरदान, आशीर्वाद के बदले शापरूप ही लगाता होगा।

इसने विचार को छिपाने के लिये शब्द का जितना उपयोग किया है, उतना विचार को प्रकट करने के लिये शायद ही किया हो! शब्द शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए है, इस पाशविक स्थिति से मनुष्य अपने को मुक्त मानता है। किन्तु इसने शब्द-शुद्धि के बदले शब्द संख्या को महत्त्व दिया है, इसलिए ऐसा हुआ है। शब्दशुद्धि की दृष्टि से, मनुष्य हजारों साल पहले जहाँ था, उससे शायद ही आगे बढ़ा हो। शब्दशुद्धि का अर्थ है—शब्द को ईश्वर के सदृश अमूर्त होते हुए भी पवित्र स्वरूप देना।

बहुत बार आत्म-श्रद्धा और अभिमान के बीच में मनुष्य धक्के खा रहा होता है। वह जिसे आत्म श्रद्धा समझता है, वही दूसरे को अभिमान लगता है। ऐसे समय में निज को कसौटी पर कस कर ही मनुष्य वास्तविक तथ्य प्राप्त कर सकता है।

❀

शब्द में शक्ति किस प्रकार आती है? मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि की प्रतिध्वनि के रूप में ही। यह ख्याल न होने से मनुष्य एक शब्द के स्थान पर एक हजार शब्दों का प्रयोग करने के लिए लालायित रहता है।

❀

विश्व के रहस्यों की विद्या मूलरूप में है और गुरु-गम्य है। साधनों के बदलने से विद्या का बाह्य का स्वरूप बदल जाता है। परन्तु उसका आभ्यन्तर चिरस्थायी है। पतंजलि और पाणिनि की, आईन्स्टीन और एडिसन की सूत्रात्मक और गुरु-गम्य भाषा चिरस्थायी है।

❀

तुम्हें यह महान् आश्चर्य नहीं लगता ? मानव की सृष्टि में बादल रंगबिरंगी संध्या, निस्सीम आकाश, जलनिधि समुद्र, कोमल पौधे, सुन्दर वृक्ष, नाना पक्षी, मनोहर फूल, पर्वत, झरने, नदियाँ, रात्रि—ये सब तो हैं। इनके होते हुए मनुष्य इनके विषय में कभी बात नहीं करता, किसी दिन विचार भी नहीं करता।

तुम्हें यह महान् आश्चर्य के समान नहीं लगता क्या ?

इस आश्चर्य के ऊपर विचार करते हुए जब थक जाता है, तब कवि चन्द्र का और जलनिधि का—सागर का और शशि का, पंछी का और पर्वत का गान गाता है। इसलिए उसमें गूढ़ संवेदन भरा होता है। आनन्द, प्रशस्ति और विषाद भरा होता है।

उल्लास का सच्चा स्वरूप यह है—

दुनिया में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसका उपयोग न हो। मनुष्य का मन, कठिनाई—दुःसह दुःख और विपत्तियों का भी उपयोग कर सकता है। जो इस प्रकार का उपयोग लेना जानता है, कहा जा सकता है कि वही उल्लास का स्वरूप समझने वाला है। साधारण समझ के अनुसार तो उल्लास मानों, सुखमय लगने वाले प्रसंगों में—नाच में, पार्टी में, भोज में, विवाह में होता है। इनमें तो यह है ही, और अन्य सब जगह भी है।

असली बात यह है कि उल्लास केवलमात्र मनुष्य को नहीं, अपितु मनुष्यों को गढ़ने के लिए होता है। और इसलिए उल्लास का स्वरूप जितना कृत्रिम या ऊपरी रहता है, मनुष्य भी उतना ही ऊपरी और कृत्रिम बन जाते हैं। मनुष्य को उल्लास का प्रसंग, अपनी दृष्टि से नहीं,

किन्तु प्रजा की दृष्टि से, निर्माण करना चाहिए। और यदि कृत्रिम रीति से रोक देने में या बदल देने में ही एतादृश स्पष्ट प्रसंग का स्वरूप होवे, तो इससे मनुष्य की उत्साह-वृत्ति को जो हानि पहुंचती है, उसके कारण, वह विपत्ति, दुःख, अथवा कठिनाइयों में से रास्ता निकाल लेने का सामर्थ्य गंवा बैठता है।

❀

और उस दिन ही लगा कि मुरझाते हुए फूल और मृत्यु प्राप्त करते हुए बालक मनुष्यों को एक संदेश दे रहे हैं :

'मृत्यु बलवान् होगी। पर प्रेम अधिक बलवान् है। और यह सत्य जानने के लिए हम ने मृत्यु का आलिंगन किया था। हमारी मृत्यु तुम भूल जाओगे, पर हमारा स्नेह तुम कभी नहीं भूलोगे। इतना ही हम ने कहना है कि मृत्यु में घाव करने की शक्ति है, पर मारने की शक्ति नहीं है।'

❀

मनुष्य का एक भी काम ऐसा नहीं कि जिसमें उसके मन का कोई न-कोई हिस्सा भरा हुआ न हो। इसलिए काम को व्यवस्थित करने का या शुद्ध करने का अर्थ यही है कि मनुष्य के मन को गढ़ने का प्रयास करना। मनुष्य के मन को गढ़ने के लिए प्रथम प्रयास पूरा करने के बाद, किसी भी प्रकार का संस्कार या विचार-शुद्धि करने का प्रयास अधिक सफल होता है और अधिक तात्कालिक तथा स्थायी परिणाम देने वाला होता है। काम की व्यवस्था और शुद्धिकरण में मनुष्य के मन को भी एक मुख्य अंग के रूप में समझना चाहिए।

❀

जीवन-शुद्धि के बिना जीवन-सन्देश ? यह बात ही असम्भव है।

इसलिए अधिकांश साहित्य मनुष्य के मरने से पहले ही मर जाता है, बाकी रहा हुआ एक दशक में।

❀

आज की वास्तविक कठिनाई यह है कि किसी में सन्देशवाहक होने की विचित्र श्रद्धा प्रकट ही नहीं हुई। फिर भी संदेश देते सभी हैं। जिस मनुष्य को अपने में श्रद्धा न हो, वह कुछ भी न कहे, इसमें मनुष्य-जाति की बड़ी से बड़ी सेवा है।

❀

मोहक शैली—बहुत से मनुष्यों में जो अनुकूल या प्रसन्न-मुद्रा वाला बन जाने का चातुर्य होता है, उसके साथ—इसकी तुलना की जा सकती है। परन्तु यह ऊंचे से ऊंचा गुण नहीं है। शैली का ऊंचे से ऊंचा गुण तो इसकी किसी अगम्य-सी लगने वाली आत्मविश्वास की मौनवाणी में है। तुम मौनवाणी कह सकते हो; जो लिखित न होने पर भी पढ़ी जाती है; जो बिना दिखे भी प्रकट हो जाती है।

❀

युगबल की पहचान होना, यह एक वस्तु है, उसका गुलाम होना यह दूसरी। पहली में युग-निर्माण की शक्ति होती है, दूसरी में युग के दोषों को घटाने की। अधिकांश को युग की पहचान नहीं होती, केवल सब के पीछे घिसटने वाला मन होता है।

❀

सौन्दर्य-दृष्टि होने का असली अर्थ यह है—दृश्यमान विरोधाभास में (धारावाही रूप से) बहने वाले एक अप्रमेय और आनन्दमय मनुष्यत्व का अवलोकन। मनुष्य तो अनेक होंगे, पर वस्तुतः मनुष्य एक ही है। इस एक सामान्य मनुष्यत्व को जानने वाला समग्र स्थितियों में विद्यमान सौन्दर्य का वास्तविक दर्शन कर सकता है।

मुझे इसका अफसोस भी नहीं और शोक भी नहीं।

जो मुझ में नहीं था, उसकी निन्दा या टीका—इससे तो मुझे कुछ मिला ही।

इस विषय में शोक भी नहीं, अफसोस भी नहीं। पर जो मुझ में नहीं था, उसकी प्रशंसा के द्वारा किया हुआ घाव विष से बुझे कातिल तीर के समान था।

मुझे अफसोस और शोक इतना ही है—घाव करने वाले मित्र थे, सुधार करने वाले अमित्र।

❀

कवियो!

फूल—और कोयले—दोनों की कविता करो न।

किसलिए छलाछल सौन्दर्य से भरे हुए विश्व का एक रूप व्यर्थ में ही छोड़ देते हो?

पहले के कवियों ने कोयले को छोड़ दिया था—उसका तो आज तुम ही शोक मना रहे हो।

तुम फिर आज फूल को छोड़ देते हो—इसका शोक तुम्हारे बाद कोई मनायेगा!

इसकी अपेक्षा तो कवियो! इन दोनों के काव्य करो न।

यदि सौन्दर्य की बात करते हो, तो वह तो तुम्हारी दृष्टि में ही विद्यमान है, कोयले में भी नहीं, फूल में भी नहीं।

यदि अर्थ या सम्बन्ध की बात करते हो, तो—तुम को ही इन दोनों के समन्वय में से नया अर्थ खोजना पड़ेगा।

कवियो! किस लिए कोयले के लिए फूलों को छोड़ देते हो—और फूलों के लिए कोयलों को?

❀

जिस दृष्टि से लोग देखते हैं उससे पृथक् रीति से देखने में लोक-

प्रियता गंवाने का भय रहता है। परन्तु इस भय के लिए ही सत्य को छोड़ देने में तो मनुष्य पामरता प्रकट करता है।

❀

कला का अभिप्राय है—व्यक्ति का अपने आप को प्रकट करने के लिए धारण किया हुआ मार्ग।

❀

जब-जब केवल अधिकार या प्रतिष्ठा को मनुष्य की अपेक्षा अधिक महत्व दे दिया जाता है और इस प्रकार सच्ची शक्ति वाले तेजस्वियों को पिछली पंक्ति में खड़ा रहने को कहा जाता है, तब तब अधिकार-अनधिकार विषय की सच्ची मीमांसा समझाने के लिए सच्चे युवक जीवन-रूपी शस्त्र को लेकर सजते हैं—ऐसा शस्त्र, जो कि जीवन-भर साथ रहे और मृत्यु के समय ही अलग होवे। यह तरुण-धर्म सनातन है। इसे कोई आलस्यमय नहीं बना सका, और कोई बना भी नहीं सकेगा। एक महाभारत, एक अनधिकार और एक कर्ण दुनियां में हमेशा गुप्तरूप से विचर रहे हैं। इनको तुम चाहे जो नाम दे दो। कोई इसे रक्तपिपासु युद्ध कहे, कोई महाभारत समझे, कोई क्रान्ति माने, कोई विद्रोह गिने, किन्तु यह तरुण-धर्म सनातन है।

❀

जब तक कर्ण और अर्जुन अलग रहेंगे, तब तक महाभारत जन्म लेगा ही। जब तक केवल अधिकार, अनाधकार को आगे करके सच्ची तेजस्विता को नहीं पहचानता, तब तक अकेले अर्जुन द्वारा—मात्र शान्त पराक्रम के द्वारा—महाभारत का जन्म अशक्य नहीं बनाया जा सकता।

❀

तिलमिलाहट को बहुत बार यौवन के साथ जोड़ दिया जाता है। उल्लास और आवेश भी यौवन के ही अंग माने जाते हैं। पुनश्च

उग्रवेग, साहस आदि भी यौवन की शोभा माने जाते हैं। वास्तव में तो इनमें से एक भी गुण को सच्चे यौवन का शृङ्गार-रूप नहीं मानना चाहिए। गणित-शास्त्री की-सी एकाग्रता से किया हुआ शक्ति का असली और शान्त विचार—यही सच्चा यौवन है। अंक के ऊपर अंक रख कर, आय व्यय को बराबर देख कर, स्वप्न और सिद्धान्त को तात्कालिक परिणाम की अपेक्षा अधिक महत्व देकर ,जो मनुष्य अपनी शक्ति का सच्चा ख्याल रखता है वह,मनुष्य युवक है—चाहे उसकी आयु कितनी ही हो। केवलमात्र देह की स्फूर्ति के परिणामस्वरूप, शक्ति का समुचित विचार किये बिना जब वह मात्र आवेश के ऊपर ही अपनी पतवार चलाता है, तब वह युवक होते हुए भी अकालवृद्ध है। तात्विक बात यह है कि शान्त गणना के कूलों के बीच में बहता हुआ स्फूर्ति का प्रवाह ही सच्चा यौवन है। यौवन का एक गुण है कि उसमें स्वयं-स्फूर्ति है। स्वयं-स्फूर्ति प्रेरणा जैसी अवस्था है और सच्ची प्रतिभा का बीज है। जो दूसरों ने किया, वही करने के लिए सच्चा युवक किसी भी दिन प्रयत्न नहीं करेगा। इस प्रकार की अनुकरण-वृत्ति तेज को नष्ट कर देती है। दूसरों ने जो किया, उसको अधिक अच्छी रीति से करके दिखाना, यह तो एक बात है; और दूसरों ने किया इसलिए उस काम को करना, यह उससे ठीक उलटी ही बात है। इन दोनों के बीच में तो आकाश और पाताल जितना अन्तर है। अनुकरण-वृत्ति अन्धकार है। यौवन तेज है। अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार और तेज साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार यौवन और अनुकरण-वृत्ति भी साथ नहीं रह सकते। रिक्शा खींचने वाली मजदूर-स्त्री के मुकाबले में मोटर हाँकना सीखने वाली स्त्री अधिक असंस्कारी और कम युवती है—यदि उसको उसकी आवश्यकता न हो, तो। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य नये से नये स्वरूप को स्वीकार कर लेता है, इसलिए उसको संस्कारी नहीं समझ लेना चाहिए। इस स्वीकृति के उपरोक्त हेतु को देख कर ही संस्कार और असंस्कार के विषय में निश्चय करना चाहिए। पहले में जीवन-

संग्राम का ध्येय है, जीने की आवश्यकता। दूसरे में आवश्यकता न हो, तब भी केवल प्रदर्शन का मोह है, ऐसा कह सकते हैं। आवश्यकता के बिना केवल स्वच्छन्दता के लिए स्वीकार किया हुआ कोई भी नया विचार या पुराना विचार मनुष्य के संस्कारी या असंस्कारी होने का निश्चायक नहीं हो सकता। यहाँ आवश्यकता शब्द भौतिक और भावना सृष्टि के किंचित-समन्वय का सूचक है।

आवश्यकता से जो-जो काम होते हैं, वे स्वयं-प्रकाशी और तेजस्वी होते हैं। और उनमें जीवन को तेज देने की शक्ति होती है। इस दृष्टि से देखने पर, ऊपरी जनता का जो बड़ा भाग निश्चिन्त और आनन्दी लगता है, वह अकालवृद्धत्व का परिणाम है, जब कि आवश्यकता से प्रेरित होकर जीवन जीने के लिए प्रयत्न करने वाला कंगाल और अकिञ्चन-जैसा बहुत-सा वर्ग यौवन के सच्चे बीज को संभाल रहा है। कारण यह कि इतना अज्ञान होते हुए भी जीवन-संग्राम में से जीवन पर ओप (चमक) चढ़ाने की शक्यता उसमें है, जब कि ऊपरी जनता का बड़ा भाग कुछ भी स्वीकार कर लेने की वृत्ति को नहीं प्रकट करता। उसमें से स्वयं-स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। अनुकरण और विलासिता का यह सहज परिणाम है।

इस उपरोक्त कथन से पता लगेगा कि यौवन-धर्म केवल अवस्था का धर्म नहीं है, केवलमात्र के ऊपर ही इसका आधार नहीं होता। जो मनुष्य आवश्यकता समझ कर अपना काम करता है, वही सच्चे यौवन को संभाल सकता है, जान सकता है, और उपयोग कर सकता है।

इस हिसाब से जीवन-संग्राम में से अनुभव को निचोड़ कर काम करने वाले सात-आठ वर्ष के छोकरे के मुकाबले में आज का तेजुष्ट निर्बल बालक लगता है। इस प्रकार की शिक्षा अधिकांश पुस्तकों में से बालक आती है अर्थात् जिनमें बालक के दोष तो सब होते हैं पर

बालक का गुण एक भी नहीं होता। ऐसे असंख्य युवक सब के सब एक प्रकार से बालक ही हैं। आज का वैद्यक-शास्त्र भी स्वीकार करता है कि दिन पर दिन ज्ञानतन्तु का रोग बढ़ रहा है। गर्मी—अनुचित गर्मी, यही ज्ञानतन्तु का रोग है। आवेश, वेग, उग्रता, वेगभरे शब्द, दिखावा, ये सब अनुचित गर्मी के चिन्ह हैं। सच्चा तेज ठण्डी शक्ति से व्यवस्था सीखता है—अत्यन्त शान्ति से मार्ग निकालता है—निश्चयात्मक बल से उथल-पुथल करता है। उसके हरेक कार्य में व्यवस्था, आवश्यकता, और शान्त गणना—ये स्वप्न-सिद्धि के चिह्न माने जाने हैं। धाँधली, प्रदर्शन, और उथवेग—ये विकृत यौवन के चिह्न हैं। सच्चे यौवन में व्यवस्था-शक्ति को, आवश्यकता को, शान्त गणना को स्थान होता है—होता है और होता है।

❀

हरेक प्रकार की असमानता में हिंसा है। जब-जब मनुष्य अपने विशिष्ट गुण का—जिसको वह व्यक्तित्व कहता है, उसका—गर्व करता है, तब-तब वह सच्ची समझ से दूर हो जाता है, उसकी उतनी सहानुभूति कम हो जाती है और वह हिंसा के मार्ग पर चढ़ जाता है। मारना ही हिंसा नहीं है। शिकार करना भी हिंसा नहीं। शिकारी की-सी वृत्ति से मनुष्य जिस बात का अपने नित्य जीवन में आचरण करता है—किसी को नीचा दिखाना, किसी से कड़वा बोल कहना, नौकर को तुच्छ गिनना, दूसरे की स्थिति न समझना—ऐसी हरेक बात हिंसक वृत्ति का ही परिणाम है। यह हिंसक वृत्ति सुख में से जन्मती है और समृद्धि में पुष्ट होती है। इसलिए अनुचित रीति से किया हुआ संग्रह एक आदमी के पास हो जाना बड़ी-से-बड़ी सामाजिक हिंसा है। किसी को जूठन देने की प्रवृत्ति, भंगी को भी भरपेट-अन्न देकर छूत जाने की आदत—सब हिंसा के ही अलग-अलग प्रकार हैं। इसमें मानवता का द्रोह है। सच्चा अहिंसावादी किसी के ऊपर अत्याचार नहीं करता, इतना ही बस नहीं, किन्तु हिंसा के भिन्न-भिन्न प्रकार

जो कि धर्म, व्यवहार और रूढ़ि में कारणरूप से समाज में प्रचलित हैं—उन सब कारणों के भी नाश का प्रयत्न करता है। सच्चा अहिंसा-वादी जिस प्रकार अत्याचार नहीं करता, उसी प्रकार किसी के ऊपर होते हुए अत्याचार को सह भी नहीं सकता, कारण कि अहिंसा सच्चे शौर्य की ढाल का द्वितीय पार्श्व है। ऐसा न हो तो उसे अनर्थरूप में ही समझना चाहिए।

❀

संध्याकाल में जब मनुष्य नदी का किनारा छोड़कर घर की ओर बढ़ जाता है और पीछे रहने वाली कोई एकाध बकरी या भेड़ें भी बें बें करती हुई चली जाती हैं, तब अवशिष्ट रहने वाला नीरव किनारा, शान्त बहता हुआ नीर और गुपचुप खड़ी छाया एक अनिर्वचनीय-सी शोक-मिश्रित छवि उपस्थित करती है। हरे-हरे पर्वतों पर जब धूप और छाया आँखमिचौनी खेल रही होती है, तब भी कोई अकथनीय शोक-मिश्रित छवि बनी रहती है। इस संवेदन का कारण जानना कठिन है। कदाचित् अत्यन्त तर्कप्रिय विद्वान् इसका कारण बता भी सकें, किन्तु इसका स्वाभाविक कारण ऐसा लगता है कि पहला चित्र हमारे जीवन के अन्त को प्रकट करता है—जिसको करुण मानने की हमारी आदत पड़ गई है। और दूसरा चित्र जीवन के तेज और छाया, सुख और दुःख, उतार और चढ़ाव का नियम प्रकट करता है। परन्तु सबको इसी प्रकार की प्रतीति हो, यह सम्भव नहीं, और शायद किसी को यह कुतर्क भी लगे। चाहे जो कुछ हो, परन्तु वीणा के अन्तिम विलीन होते हुए स्वर के समान दर्द भरा मिठास,—प्रकृति की इस छवि में नहीं, तो किसी दूसरी छवि में—और दूसरी किसी छवि में नहीं, तो अपने ही स्वभाव के दो परस्पर-विरोधी तत्वों में किसी क्षण तो किसी न किसी को प्रत्यक्ष हुआ ही होगा। चिन्तन जिनके स्वभाव में ही नहीं है, ऐसे मनुष्यों के पास अवसर पड़ने पर

ऐसा क्षण न ही आवे—यह भी हो सकता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी रीति से चिन्तन करता ही है। और इस रीति से प्रत्येक के जीवन में इस अनुभव का स्थान है। इस शोक-मिश्रित संवेदन की ओर निर्देश करने का इतना ही हेतु है कि जीवन में जिस प्रकार इस अनुभव का स्थान है, उसी प्रकार इसके विरोधी लगने वाले —परन्तु अत्यन्त तेजस्वी—दूसरे अनुभव का भी स्थान है। और वह है—भयंकर रमणीयता। आज का युग-धर्म इस अनुभव का अधिक स्पष्टीकरण मांगता है—आज का समय-प्रवाह इस अनुभव के विषय में विशेष जानने की इच्छा रखता है।

❀

कोई पूछे कि युवक की एक सर्व-सामान्य व्याख्या क्या है? जो सबको मान्य हो—ऐसा उत्तर देना कठिन है। किन्तु, सम्भव है, कुछ ऐसा-सा उत्तर कभी समय पाकर सर्वमान्य हो जावे।

एक कलाकृति की याद आती है। फुंकार मारता हुआ भयंकर विषधर नग्न देहलता पर लिपटकर, जिस समय होंठ पर हलाहल विष का चुम्बन लेने के लिए फण ऊपर उठाता है—उस समय हनीबाल की बहन सोलम्बो, जिस निश्चल स्थिरता से इस भयंकर मूर्ति का आलिंगन करती है—ऐसी हड्डियों को ठण्डा करके रख देने वाली निश्चल स्थिरता—जीवन और मृत्यु का खेल करते समय भी जिसके जीवन में रह सकती है, वह मनुष्य नित्य युवक है। जिस प्रकार लोह-चुम्बक सुई को आकर्षित करता है, उसी प्रकार भयंकर रमणीयता यौवन को आकर्षित करती है। हिमालय के गगन-चुम्बी शिखरों के ऊपर जब हलके केसर से रंगी हुई पवन जैसी पतली चादर प्रसृत हो जाती है, तब उस भयंकर रमणीयता को प्रत्यक्ष करने का स्वप्न किसी तेजस्वी युवक को ही आता है। कोई इस दृश्य को देखकर कविता करता है, कोई लेख लिखता है, कोई दार्शनिकता से

भरा चिन्तन करता है, किन्तु इसको देखे और देखते ही इस भयंकर रमणीयता के पीछे जीवन को पांसा समझकर फेंक दे—यह तो पृथ्वी के किसी अलंकार-भूत युवक जुआरी का ही काम है। कोई दूसरा यह काम नहीं कर सकता। कर्म—जीवन का प्रधान स्वर ही कर्म—यह यौवन का प्रथम चिह्न है।

इस भयंकर रमणीयता में ऐसी क्या मोहिनी है कि देश-देश के नवयुवक अपनी अधिष्ठात्री देवी में रूप में किसी सौम्य कान्ति वाली कल्याणी को नहीं, किसी शान्तिप्रिय आनन्दमयी मूर्ति को नहीं, ध्यानमग्नस्थ किसी प्रज्ञा-पारमिता को नहीं, और न ही धर्म चक्र का प्रवर्तन करने वाले सत्यशाली बुद्ध को, किन्तु केवल इस भयंकर रमणीयता को ही स्वीकार करते हैं। ऐसी इस रमणीयता में क्या मोहिनी है कि नवयुवकों को, या तो हिमालय का शिखर सर करने का स्वप्न आता है, या जहां भी कहीं अत्याचार और अन्याय हो उसको वहां से उखाड़ फेंकने के लिए जीवन और जवानी को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने की आतुरता होती है।

हिमालय को सर करते हुए हड्डियों को गला देने वाली बरफ की ठण्ड के नीचे मरना अथवा राष्ट्रोद्धार के लिए हड्डियों को कम्पित, नष्ट कर डालने वाली फांसी पर लटकना—इतनी पृथक्-पृथक् लगती हुई भी एक ही मनोदशा में से प्रकट होने वाली यह तेजस्वी प्रवृत्ति—क्यों बारम्बार प्रकट होती है? मर जाते हैं, और फिर भी यह क्यों जीती रहती है? अग्नि का सागर है—यह जानते हुए भी इस भयंकर रमणीयता की मोहिनी में पड़ने वाले मारुति—ये पवनपुत्र बारम्बार कहां से आ जाते हैं? यह भयंकर है, यह जानते हुए भी, इसमें वह कौनसा सौंदर्य है, जो बारम्बार युवकों को अपनी ओर आकर्षित करता है?

जिस प्रकार शंकर की काल्पनिक मूर्ति है, जिस प्रकार दुर्गा की मानसिक मूर्ति है, जिस प्रकार शोकरानी चित्रकार या कवि की कल्पना

में है, जिस प्रकार द्रौपदी व्यास के मन में और सीता वाल्मीकि के हृदय में है, उसी प्रकार यह भयंकर रमणीयता प्रत्येक, और प्रत्येक युवक के हृदय में है। यह मानों यौवन के रुधिर का ही अंश है। यदि कल्पना नष्ट हो जावे, तो इस प्रकार का भयंकर रीति से रमणीय गिना जाने वाला जीवन नष्ट हो जाता है। ऐसा होगा ही। यह भयंकर भी रहेगा और यह रमणीय भी लगेगा। कोई भी कायदा-कानून और कोई भी सत्ता इस स्वप्न को नष्ट-भ्रष्ट कर ही नहीं सकती। ये स्वप्न अनादि और अनन्त हैं।

—तो अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस भयंकर रमणीयता के पुजारी—हिमालय के सौन्दर्य पर प्राण न्यौछावर करने वाले—राष्ट्र के प्रसाद को खड़ा करने के लिए अपने आपको नींव में डाल देने वाले, आकाश का मार्ग बींधते हुए प्राण खो देने वाले और समुद्र का मर्म जानने के लिए जीवन देने वाले—ऐसे जीवन का जूआ खेलने वालों के लिए, शान्त-सौम्य-धर्म अथवा राजनीति में क्या कोई समुचित स्थान है?—हमारे ठण्डे दिमाग में इसके लिए शब्द तो है ही—स्थानभ्रष्ट साहस, उन्मत्त शौर्य! और राजद्वारी विप्लववादियों के लिए—उलटे मार्ग पर चले जाने वाले पथभ्रष्ट!—ऐसा शान्त शब्द है ही। किन्तु इस शब्द में तेज है, या कुण्ठित आभा दिखती है? विप्लव खराब है, विपरीत और टेढा पथ है; आकाश और समुद्र का साहस भी भौतिक दृष्टि से ठीक है—पर इसमें अशान्ति है।—क्या प्राण अर्पण करने वालों के प्रति यह समुचित न्याय है?

मध्यरात्रि में—बादल-घिरी किसी अँधियाली काली रात में, जो घर से बाहर पैर भी न रख सके, ऐसा मनुष्य जब गौतम बुद्ध के जीवन में से रटे हुए शब्दों के द्वारा किसी भी देश के किसी भी विप्लववादी का मूल्य आँकने बैठता है, तब उसका वह अंकन अशुद्ध होता है। ऐसा कह देना कि यह मार्ग सच्चा नहीं है—इसमें शौर्य नहीं है—यह अहिंसावादी की बड़ी से बड़ी हिंसा है।

ऐसी भयंकर रमणीयता का मोह होना किसी प्रकार का रोग नहीं है; वाममार्गी मन नहीं है; विरुद्ध पथ पर चलने वाली शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं है; यह है किसी किसी मनुष्य के ही जीवन में दिखने वाली अन्याय अथवा कठिनाई के सामने अणु अणु बनकर मिट जाने वाली अति उग्र किन्तु तेजस्वी ज्वाला।

❀

जीर्ण-शीर्ण वट वृक्षो! तुम्हारी सूखी डाली के ऊपर यत्र-तत्र दिखते हुए दो-चार हरे पत्तों को देखकर मुझे धूल में मिले हुए महान् खंडहर याद आते हैं। एक समय तुम अपनी समृद्धि से सारे वन-पथ को शोभित कर रहे थे आज वही वनमार्ग तुम्हारे कारण कँगाल जैसा दिखता है। मैं जब जब तुम्हें देखता हूँ, तब तब काल-जीर्ण वंश-परम्परागत अमीर कुटुम्ब की करुण गरीबी मुझे याद आती है।

महान् न बनने में भी एक शान्ति लगती है! अपने सादे स्वच्छ घर के आंगन को अलंकृत करके साँझ-सवेरे हाथ पैरों से जीने वाला किसान किसी भव्य महल के निवासी के मुकाबले में कितनी कम जिम्मेवारी के साथ, और कितनी अधिक शान्ति भोगता हुआ लगता है। उसके घर के आँगन का एक टूटा हुआ किवाड़—उसको वह चाहे जैसे थेगले से सुधार सकता है, और उसके होते हुए भी वह अस्थान-युक्त नहीं लगता और न ही उपहास-पात्र बनता है। उसके जीवन के विषय में किसी को कुछ वक्तव्य भी नहीं होता। और ऐसी सादी गरीबी में इस अज्ञात रूप से वह अपने दिन गुजार देगा।

—किन्तु किसी भव्य खँडहर की अब गरीब बनी हुई एक खिड़की का थेगला यदि अयुक्त-अशोभन होगा, तो यह सारी दुनिया का ध्यान खींचेगा; उपहास-पात्र बनेगा और अपने निवासी का एकान्त जीवन करुण बना देगा। किसी समय जो इसकी महत्ता समझी जाती, वह महत्ता ही अब इसको अन्दर से कुतर कुतर कर खा जायगी। जीर्ण-

शीर्ण वट वृक्षो ! तुम्हारे आस पास खड़े हुए अनेक वृक्षों की जीवन-लीला समाप्त हो गई—वह जामुन का पेड़, नीम, पीपल सब चले गये। उनकी करुण-कथा दुनियां ने पता नहीं देखी या नहीं देखी; केवल तुम ही अब तक खड़े हो।

आज तुम्हारे समग्र शुष्क देह के ऊपर एक स्थान पर दो-तीन हरे पत्ते—देखने में इस भव्य खँडहर के एक-दो लुढ़कते हुए पत्थरों के समान मर्मभेदी लगते हैं। अरे ! तुम अपने साथियों के साथ ही विदा हो गये होते !

—या फिर तुम यह संदेश देने के लिए ही खड़े हो—'सच्ची करुणता तो इसमें है कि जीवन का कोई उपयोग न रहने पर भी शुष्क जीवन का मोह रहता ही है' ?—अथवा तुम्हारे समय के श्रीमन्त कुटुम्ब के वंशज तुम्हारी बिना छाया की देह के पास पसीने से तर ब तर होकर मजदूरी कर रहे हैं—और साथ साथ ही उस किसान के रूप में जीवन बिताने वाले गरीब का कोई लुढ़कता-पुढ़कता वंशज आज भी उसी प्रकार की दरिद्र खेती और अपने निर्बल बैलों को निभाकर खेत के बीच में इस प्रकार खाट डालकर बैठा है—इस दृश्य को जरा दार्शनिक की दृष्टि से देख लेने के लिए ही अब भी अपने जर्जरित देह के ऊपर जीवन की निशानी की तरह दो-चार पत्ते लगा देते हो ?

जीर्ण-शीर्ण वट वृक्षो ! उस समय तुम्हें अकेला रहने की फुरसत नहीं थी; आज तुम्हारी कंगाल गरीबी के कारण तुम्हारे पास फटकने के लिए किसी को फुरसत नहीं है।

मुझे एक उर्दू कवि का शेर याद आता है—

'हम नशीनों ख़ल्क़ की अब तो तहशत आफ़रीं !
एक लगाने में यह सौदा था कि तनहा नहीं रहूँ !!'

प्रेम पाँच रीतियों से व्यक्त होता है—अथवा प्रेम के पाँच स्वरूप हैं, यह एक विद्वान् का कथन है। जो स्त्री पुरुष एक दूसरे के लिए ही

बनाये गये होते हैं, उनमें शारीरिक, मानसिक, नतिक और आध्यात्मिक समानता होती है। यह एक दूसरे के लिए निर्माण होना क्या सम्भव है? बहुतों को यह असम्भव लगता है। किन्तु ऐसे युगल अत्यन्त विरल होने से ही यह असम्भव लगता है। फिर भी इतना तो सम्भावना रूप में हर कोई स्वीकार कर सकता है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति के रक्त के जीवाणु, दूसरे व्यक्ति के रक्त के जीवाणु की अपेक्षा अधिक अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं, उसी प्रकार शरीर धर्म के अनुसार व्यक्त होने वाला मन भी अधिक अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। ब्राउनिंग और उसकी स्त्री, अथवा वाचस्पति और भामती, राजेश्वर और अवन्ति सुन्दरी—ये सब इस कक्षा के उदाहरण हैं। फिर आता है, जिसको साहसिक प्रेम कहते हैं। पृथ्वीराज और संयोगिता, रोमयो और जूलियट, बाजबहादुर और रूपमती, बाजीराव और मस्तानी—ये सब इस प्रकार के प्रेम हैं। फिर भावना-प्रधान प्रेम की कक्षा में—प्रताप और उसका घोड़ा, स्काट और उसका कुत्ता, इस प्रकार जातीय आकर्षण से परे के युगल गिने जा सकते हैं। स्त्री पुरुष में इस प्रकार का जातीय आकर्षण से परे का प्रेम सम्भव है। और खास करके जब स्त्री भावना-प्रधान हो, तब प्रेम जीवन के अन्त तक टिका रहता है।

❀

जातीय आकर्षण से बँधा हुआ और 'विवाह के अधिकार' के नाम से प्रकट होने वाला प्रेम, काम अथवा पशु प्रेम कहा जाता है। पशु की अपेक्षा मनुष्य इसमें अधिक स्थिरता द्योपित करता है, तो वह किसी ऊँचे प्रकार की भावना से प्रेरित होकर नहीं, किन्तु सामाजिक रूढ़ि अथवा आर्थिक भय के कारण। इस प्रकार का आकर्षण भी प्रारम्भ में तो Romantic जैसा ही आनन्दजन्य और सौन्दर्यमय लगता है, किन्तु इसका मूल पुरुष अथवा स्त्री की

आन्तरिक आवश्यकता की अपेक्षा बाहर की परिस्थिति पर या इन्द्रियों के वेग पर अधिक आधार रखने वाला होने के कारण, धीमे धीमे इस आकर्षण में विद्यमान नवीनता घिस जाती है और उसके बाद का चलता हुआ सारा व्यवहार शुष्क यन्त्रवत् अथवा सामाजिक विवेकयुक्त हो जाता है। ऐसी शुष्कता अथवा सामाजिक विवेक से टिका रहने वाला दाम्पत्य-धर्म बिल्कुल वाहियात और अशक्त समझना चाहिए। एवमेव इस दाम्पत्य-धर्म को यदि विकास के सोपान पर चढ़ा दिया जाय, तो उसमें से धीमे धीमे साहसिक और अन्त में मानसिक या आध्यात्मिक प्रेम उद्भूत हो जाने की सम्भावना है। किन्तु इसके लिए प्रेम-धर्म की जो सब प्रकार की छोटी बड़ी वास्तविकताएँ समझ सकें, ऐसे तरुण स्त्री पुरुष एक दूसरे से मिलें—यह समाज में सम्भव होना चाहिये।

प्रेम के अन्तिम स्वरूप को तुम दुकानदारी की भाषा में साहचर्य प्रेम कह सकते हो। इसमें से भी ऊँचे प्रकार का प्रेम-धर्म जन्म नहीं ले सकता, यह कोई नियम नहीं है। प्रेम—स्त्री पुरुष के हृदय में रहने वाला बीज है। केवल स्त्री-पुरुष ही नहीं, चाहे कोई भी दो व्यक्ति हों, उन दोनों के बीच में यह एक अदृश्य संकेत-धर्म है। और इस संकेत धर्म को अनेक अर्थों से भर देने का व्यवहार तो पीछे ही आता है। एवमेव इस संकेत धर्म में क्या अर्थ आयगा और क्या अर्थ नहीं आयगा, इसका आधार भी व्यक्तिगत विकास पर ही निर्भर है। इस रीति से प्रेम के अनेक स्वरूप—एक की अपेक्षा एक अधिक उत्कृष्ट है, और मनुष्य अपने अपने व्यक्तिगत विकास के अनुसार एक अथवा अन्य स्वरूप का आश्रय लेकर अधिकाधिक ऊँची मनोदशा सीखने का प्रयत्न करता है, इसी में उसकी सफलता है। कारण, कि समाज अथवा जाति को सुधारने वाला भी पहले अपनी पूरी खोज कर ले और अपने योग्य प्रेमधर्म को विकसित कर ले—इसमें स्वस्थता है। ऐसा स्वरूप—किन्तु उससे शुष्क, असन्तोषी या

उद्विग्न नहीं—जीवन दूसरे को थोड़ा-सा दे सके और कुछ ले भी सके। शुष्क, असन्तोषी, और उद्विग्न दाम्पत्य-जीवन स्वस्थ है, ऐसा समझ कर यदि कामचलाऊ थेगले लगावेंगे, तो पहनने वाले को ही लज्जित करेंगे—और देखने वालों को घृणा उत्पन्न करायेंगे। इसमें न तो स्त्री की स्वस्थता है, न ही पुरुष का पराक्रम, न तो प्रणाली की विजय है, और न ही प्रेम धर्म का आकर्षण : इसमें तो सब की ही गरीबी दिखती है—विचार की गरीबी—विचार करके देखने की गरीबी—और आचार की गरीबी !

❀

मदभरी मानिनियो !—और मदिरा की प्यालियो ! कौन कहता था कि तुम खराब हो ? तुममें मनुष्य को मोह में डाल देने की और मादक बनाने की माया है, यह कौन कहता था ? कौन कहता था कि तुम मानव को नष्ट-भ्रष्ट कर देती हो—स्नेह का संसार बिसार देती हो—शक्ति को कुण्ठित कर देती हो—यह कौन कहता था ?

भले ही यह कहने वाला कोई भी हो; तुम में इनमें से एक भी दोष नहीं है ? तुमने तो निराश हृदयों को दो घड़ी आनन्द दिया है। दिन रात पिसे जाते हुए जवानों को जरा स्वप्न का स्वाद चखाया है। केवल विलास की लालसा में घूमते हुए अनेक आवारों और फक्कड़ों को दो घड़ी घर का भान कराया है। तुम न होवो—और केवल यन्त्र, काम काम, निराशा और धृष्टता का तुच्छापन होवे—तुम न होवो और यह रहे—तो दुनियां को थोड़े और पागलखाने खोलने पड़ेंगे।.....

इसकी अपेक्षा तो मदभरी मानिनियों ! और मदभरी प्यालियो ! तुम—तुम ही अमर रहो !

तुम में कोई दोष नहीं। किसी भी वस्तु में दोष नहीं। दोष तो उसके मानव द्वारा रचे हुए और किये हुए उपयोग में है।.....

❀

खँडहरो रे ! मेरी जन्मभूमि के खँडहरो !—जब जब तुम्हारी याद आती है, तब तब हृदय के अनेक कोण-प्रकोणों में से वेदना उग निकलती है। मुझे आश्चर्य होता है कि इतनी अधिक वेदना, हृदय के किस गुप्त भाग में बैठकर अपनी गुप्तवाणी इस प्रकार संगृहीत करके रखती है, और मेरे हृदय के अणु-अणु को अपना संदेश पहुंचा देती है।

बहुत-से समझते हैं कि तुम गिरे हुए मकान हो। कई यह समझते हैं कि तुम देशान्तर में भागे हुए प्रवसित मनुष्यों की मिलकियत हो। और दूसरे अपने मन में यह समझते हैं कि तुम सड़े हुए, जंग लगे हुए और छिन्न-भिन्न बने हुए पिंजर हो। पर मुझे तुम में मानव भाग्य की महाकथा सुनाई देती है।

एक समय तुम ही रसभरी प्रियतमा और तरुण युवक की गुप्त-गुप्त बातों को सुनकर हर्ष से मानों नाचते थे। तुम्हारे आँगन में ढोल के ऊपर डंका मारते हुए उस बोधा भंगी का हृदय इतना अधिक उछलता था, जैसे कि वह जमीन पर ही न हो। एक पैर से वह लंगड़ा था—फिर भी ऐसे कूद रहा था, जैसे कि तीन पैर हों। कितनी कितनी नववधुओं ने तुम्हारे आँगन में अपने अन्तर की पहली रात्रि का उल्लास मना कर तुमको वसंतागमन से कुसुमित हुई वल्लरी के समान शोभायमान बनाया था !

खँडहरो ! यह सब आज तुम्हारे अन्तर के, कौन जानता है, किस कोने में छिपकर बैठा होगा—कौन जानता है, कि काल महोदधि के किस अज्ञात प्रदेश में भटकता होगा ?

मानव-मात्र खँडहर है—यह जानने के बाद तुम्हारी इस दीन-हीन अवस्था के लिये मुझे अपने अन्दर लेश-भर भी ग्लानि नहीं; तुम्हारे अनन्त स्वरूप के लिए शोक नहीं।

जो चढ़ता है, वह गिरता ही है—इस अविचल नियम के तुम बेशक शिकार हुए हो !

पर दुनिया में दो प्रकार के खँडहर हैं—अपनी जर्जरित देह में अचल योद्धाओं की राख संभाल कर मनुष्य में विद्यमान अजेय शक्ति जिन्होंने प्रकट की; अथवा अपने टूटे-फूटे अवशिष्ट थोड़े-से अस्तव्यस्त पत्थरों के द्वारा, एक समय पृथ्वी को जीवन सुगन्ध से भर देने वाले साधु-सन्तों की मुट्ठी भर मिट्टी में विद्यमान महत्ता जिन्होंने प्रकट की—ये एक प्रकार के खंडहर !

—और एक समय लाखों करोड़ों के हीरे जवाहरात से भरे हुए, गरजते हुए मनुष्य-समुदाय के द्वारा हरेक क्षण को हजारों विलासों में बदलते हुए भी, अपने राग द्वेष और असूया से जो अपने ही हाथों राख बन गये—ये दूसरे प्रकार के खंडहर हैं।

मुझे खंडहर—मन्दिरों की अपेक्षा भी अधिक पसन्द हैं। इनके पत्थरों में—एकाध ध्वजा के लिए मिट्टी मिट्टी बन जाने के लिए तोप के मुख पर चढ़ जाने वाले तरुण योद्धा की मुख-मुद्रा का स्पष्ट आलेखन मिलता है। इनमें अनुपम स्त्रियों की तेजस्वी अग्नि-सदृश मूर्तियां दिखाई देती हैं।

पर रे मेरी जन्मभूमि के खँडहरो ! तुम्हें खँडहर बना हुआ देख-कर मुझे ग्लानि होती है—खँडहर बनने के कारण नहीं—कालमहोदधि में कौन खँडहर नहीं है ?—किन्तु केवल अपने स्वत्व को संभालने की अशक्ति के ही कारण तुम खँडहर बने हो, इस बात से मुझे चोट लगती है। केवल नौकरी-चाकरी के लिये; तुम्हारा खलिहान, गाय, गंजी (खेत में स्तूपाकार घास का संग्रह), वट-वृक्ष, नदी, रेती का पट, सब छोड़कर हम जंगल जंगल और पत्ता पत्ता छानने के लिए चल निकले—अपनी जवानी में तुमको संभालने योग्य स्वत्व भी हममें विकसित नहीं हो पाया—यह सब मुझे याद आता है तब तुम्हारी याद मुझे और अधिकाधिक वेदना देती है।

अज्ञान-असूया या अशक्ति के कारण बने हुए खँडहरों को जब जब किसी गाँव के सिरे पर देखता हूँ, तब तब उनमें विद्यमान मानव कथा का अंश मुझे हृदय-वेधक लगता है।

रे खँडहरो ?—किसी भी महान् हेतु के लिये, किसी धन्य घड़ी को स्थिर करने के लिये, जीवन के किसी सुन्दर प्रसंग का मूल्य आँकने के लिये—यदि इस प्रकार की किसी रीति से तुम्हें खँडहर बनाया गया होता; तो इसमें हमारी विजय थी, तुम्हारे अवशेष का गर्व भी था।

किन्तु ये तो तुम खँडहर केवल हुए ही इसलिए हो कि हम अशक्त थे, क्योंकि हम अज्ञानी थे, क्योंकि हमें सच्ची समझ नहीं थी—इसीलिये।

माता धरती का बहुत बार मन हुआ होगा कि इस प्रकार के खँडहरों को अपने अन्तर में विलीन कर लूँ—जिससे कि मानव-कुछ थोड़ा अधिक समझदार बने—सच्चे खँडहरों में रहने वाली विभूति को अधिक पहचान सके—और थोड़े-से सच्चे खँडहरों का सिरजन भी कर सके!

❀

आज मुझे कल्पना की दृष्टि से ऐसे कई पुरुष दिखाई देते हैं, जो योद्धा नहीं थे—फिर भी योद्धा थे। जिन्होंने तलवार लेकर रणभूमि में युद्ध करने के लिये प्रयाण नहीं किया था, जिन्होंने लड़ाई में छाती के ऊपर घाव नहीं झेले थे; फिर भी उनके द्वारा किया हुआ युद्ध सच्चे युद्ध की तुलना में लेशभर भी कम वीरता-भरा नहीं था।

अज्ञात योद्धाओं के भूले-भटके विस्मृत हुए स्मृतिचिह्न आज भी किसी-किसी जगह दिखाई देते हैं।

लोग जिसे इतिहास कहते हैं, उस इतिहास की रचना, ऐसे अज्ञात योद्धाओं के रक्तबिन्दुओं में से प्रवाह बह-बहकर ही होती है।

पर ये स्मृति-चिह्न रहें या न रहें, इतिहास की रचना हो या न

हो—इसकी लेशभर भी अपेक्षा किए बिना कई काल्पनिक-से पुरुषों ने प्रजा के हृदय में आशा का एक दीप जलता रखने के लिए स्थान-स्थान पर घूमकर, अपने जर्जरित तम्बूरे के स्वर से गीत गा गाकर प्रजा को ऐसा बना दिया कि वह अपना स्वत्व प्राप्त करने के निश्चय में मृत्यु से भी भयभीत न हो।

मुझे जब-जब ऐसे अनैतिहासिक पुरुषों की याद आती है—और इन पुरुषों ने जंगल में भटक कर, दाल रोटी खाकर, मुट्ठी-मुट्ठी भर धान के ऊपर जीवन-निर्वाह करके, किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की आशा के बिना, यश या कीर्ति की लेशभर भी पर्वाह किए बिना, प्रोत्साहन देने वाले रणवाद्यों की सहायता के बिना, केवल अपनी लंगोटी और झोली के ऊपर आधार रखकर अपने भग्न-त्रुटित गीत और भजनों के थोड़े-से स्वरों द्वारा, युद्ध का घोष जाग्रत रखा और प्रजा के अन्तःकरण में आशा-तन्तु जीवित रखा—जब-जब इस विषय में विचार आता है, तब-तब प्रतीत होता है कि तोपों में अधिक बल होगा, पर तम्बूरे में भी कम बल नहीं है। फिर यह भी लगता है कि तात्कालिक काम भले ही तोपों से जल्दी हो जाते हों, पर चिरस्थायी अग्नि प्रकट करने में वह तम्बूरे की तुलना नहीं कर सकती। भले ही प्रजा को जीतने में तोपों का बहुत बड़ा भाग हो, पर उसको जीवित रखने में तम्बूरे का भाग भी कम नहीं। और तभी समझ में आता है कि कविता जीवित रहेगी, तो प्रजा जीवित रहेगी। तोपों को जीतने वाले तम्बूरे की ध्वनि यदि एक बार विजयी हुई है, तो अनेक बार विजयी होगी। इस तम्बूरे से प्रजा के दिल में रहने वाले आशातन्तु को प्रज्वलित रखने वाले सच्चे भटकने वाले भजन-गीत-गायक होंगे, तो पराजित प्रजा भी जीवन और स्वत्व को पहचान कर एक बार फिर से अपनी महत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी।

❀

तुमने उस दिन पूछा था कि कौनसा फूल सबसे अधिक सुन्दर है ? आज उसका जवाब देता हूँ :

कई कवि गुलाब का बखान करते हैं। उसमें रंग की मोहिनी है, और फिर सुगन्ध की मिठास भी है। उसकी पत्ती-पत्ती में नए-नए रंग की मादक – भीनी—हल्की छटा है। और फिर यह अपने आपको सस्ता बना देकर अपना अमीर कुटुम्ब का सार भी नहीं गंवा देता। इसका आकार भी गूढ़-रचना के सांकेतिक चिन्ह जैसा होने के कारण अधिक मनोरम और अर्थवाही लगता है.....

दूसरों के मतानुसार कमल का फूल सर्वश्रेष्ठ समझा जाना चाहिये। इसमें रंगमोहिनी तो है ही, पर इसकी सुगन्ध भी—मनुष्य के आन्तरिक जीवन की सुगन्धि की तरह—स्थायी रूप में होने पर भी अत्यन्त धीमी गति से मिलती है। इसे प्राप्त करने के लिए थोड़ी-सी राह देखनी पड़ती है। और इसमें ही इसकी सच्ची महत्ता है। पुनश्च कवि लोगों ने इसके जन्म स्थान का निर्देश करके इसके व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दे दिया है। गुलाब को तुम शृङ्गार का फूल कह सकते हो, पर कमल तो तत्वज्ञान और धर्म के साथ संकलित है। यह इतना विशाल भी है कि इसे सर्वश्रेष्ठ गिनना अनुचित भी नहीं है। इसकी रचना में गुलाब-सी गूढ़ता नहीं है—यह सत्य है, पर फिर भी अपने समग्ररूप को बता कर यह इतना तो गर्व कर सकता है कि इसमें साधु के अन्तःकरण की तरह कहीं लेशभर भी अस्वच्छता नहीं रहती।

जूही, चमेली, चम्पा, बकुल, पारिजात, बेला—और ऐसे ही अन्य अनेक फूल अपना-अपना व्यक्तित्व धारण करते हैं—ऐसा कई मानते हैं; और कहते हैं कि केवलमात्र नाजुक और कोमल होने के कारण उन्हें रत्ती भर भी घटिया नहीं कहा जा सकता। इस रीति से गिनो तो, मनुष्य जीवन के अनेक वर्षों में जो थोड़े से धन्य पल आते हैं, उसी प्रकार इन्हें समझा जा सकता है। महासागर या महानद की तुलना में भी एकाध खिलखिल शान्त बहता हुआ झरना बिल्कुल

मामूली नहीं है। इतना ही नहीं, बहुत बार तो वह ही चिर-स्मृति में रहता है। मोतिया की सुगन्ध इतनी सरस होती है कि स्मृति में बस जाये। पारिजात और जूही की कोमलता-नजाकत इतनी कमनीय होती है कि सम्भव है, उसको स्पर्श करने वाला हाथ अपने असभ्य और जंगली कहे जाने के डर से उसको दूर रह कर ही देखना पसन्द करे। और इस वातावरण को जमाने में ही इन नन्हे फूलों की विजय है। इस दृष्टि से तो गुलाब, अत्यन्त मत्त बन कर इशारा करती हुई प्रणयाकुल ललना जैसा है। जब कि जूही तो नाजुक-कोमल-नन्हीं—सुन्दर बालिका जैसी लगती है। मोतिया की असली खूबी जितनी उसके मध्यम कद में रहती है, उतनी ही उसकी सुगन्धि में भी है। पुनः इसके स्वच्छ रंग के साथ इसकी सुगन्ध का विशिष्ट संवाद भी रहता है। यह जिस प्रकार अपने आपको छिपाता नहीं, उसी प्रकार प्रकट भी नहीं करता। और इसी प्रकार के इसके व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप के पत्ते की रचना के कारण अधिक अर्थ भी मिलता है। कालिदास द्वारा वर्णित-यौवन में प्रवेश करती हुई मुग्धा की तरह इसका स्वरूप इतना मोहक है कि इसके प्रेमी तो इसी को फूलों की रानी मानते हैं।

परन्तु मेरा दिल तो इनमें से एक भी फूल में नहीं। कोई कवि आँवले के फूल को सर्वोत्तम समझता है, क्योंकि वह गरीबों को भी सहज में ही मिल जाता है—इसलिए। यह मेरे ऊपर यह मत असर नहीं करता।.....मेरे मत के अनुसार तो धतूरे का फूल सर्वोत्तम समझे जाने का पात्र है। केवल अकस्मात् ही, या इसी कारण कि यह शंकर के मस्तक पर चढ़ता है—यह बात नहीं है। इसमें एक प्रकार का गुप्त सामर्थ्य विद्यमान है। इसकी रचना, आकार और दिखाव तीनों ऐसे हैं कि जिस प्रकार मनुष्य आते और जाते हुए अन्य फूलों को तोड़ कर मसल देता है, उसी प्रकार इसे मसल कर गिरा देने के लिए झट नहीं तोड़ता। इस प्रकार अपने आप को सस्ता न बना देने वाली इसकी जीवन-कला में खुली तलवार का तेज तो है ही, पर

इसका पौधा और फल—दोनों ही ऐसे हैं कि वह अपूर्ण रहे। और इस प्रकार सारे धतूरे का एक-सा स्वरूप ऐसा बना हुआ है कि जो गुलाब, जूही, मोतिया या अन्य किसी में भी नहीं है। धतूरे के फूल की गंध—उत्कट और उग्र। तुम्हारा तोड़ कर सूंघने को मन नहीं होगा। तथापि, चाँदनी रात में इसके पौधे के पास से निकलो, तो तुम्हारा अन्तर एक प्रकार की मोहक और मादक सुगन्ध की तृप्ति प्राप्त करेगा। फूल का चाँदनी के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। इस दृष्टि से तो धतूरे का फूल मोतिया जितना ही वैभव चाँदनी रात में प्रकट करता है। तुम इसको तोड़ कर इसकी सुगन्ध नहीं प्राप्त कर सकते—इस विशिष्टता के कारण भी धतूरे का फूल सर्वोत्तम समझना चाहिए। इसमें अन्य फूलों की-सी असहायता नहीं है, फिर भी सुगन्ध-रूप-विशालता ये सब हैं। मानवी के कण्ठ को शोभित करने के लिए इसका देह है ही नहीं। इसका कनक मानव के चरण से कुचले जाने के लिए नहीं होता। यह या तो शंकर के मस्तक पर चढ़ता है या जन्मभूमि की मिट्टी में ही मिल जाता है। ऐसे तो अन्य बहुत से फूल हैं, जो रूप में रंग में और सुगन्ध में सुन्दर लगते हैं, पर और किसी में यह असामान्य गुण नहीं मिलता। 'तुम्हें सुगन्ध मैं देता हूँ—अपने जीवन क्रम के एक अंश के रूप में ; तुम मुझको निर्बल समझ कर तोड़ कर मसल दो—इसलिए नहीं।